-शिवकुमार ओझा

प्यासा पंछी

९.४३२
२ प्या

शिवकुमार ओझा

काशी क्षेत्र की भृगु-भूमि में जन्मे शिवकुमार ओझा की शिक्षा-दीक्षा काशी तथा लखनऊ में हुई। मुख्य टेक्निकल शिक्षा आपको लंदन में मिली। 'सोहाग-दान', 'देवदर्शन'; 'जब बहार आई' 'मीठी लगन' इनकी प्रसिद्ध औपन्यासिक कृतियाँ हैं। **प्यासा पंक्षी** में आधुनिक समाज का अच्छा चित्रण किया गया है। सरल भाषा और आकर्षक शैली के धनी ओझाजी कल्पनाप्रवण एवं अत्यन्त संवेदनशील लेखक हैं।

सम्पर्क सूत्र—
९० अलीपुर रोड, कलकत्ता—२७

डा. डिल्ली समक देव्यो
कल्याणी रेजमी स्मारक
पुस्तकालय

प्रचारक बुक क्लब
हिन्दी प्रचारक संस्थान
पो०बा०१०६, पिशाचमोचन, वाराणसी-२२१००१

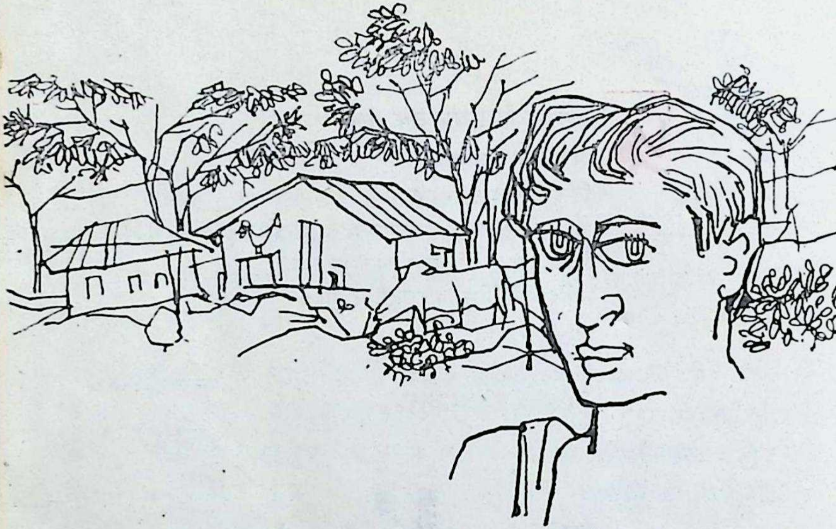

डा. डि... र...ण रेग्मी
...त्यायी रेग्मी स्मारक
...स्तकालय

प्यासा पंछी

भारत के प्रथम बुक क्लब
प्रचारक बुक क्लब
हिन्दी प्रचारक संस्थान
पो० बा० १०८, पिशाचमोचन, वाराणसी-२२१००१ के लिए
विजय प्रकाश बेरी द्वारा प्रकाशित तथा
भार्गव भूषण प्रेस, वाराणसी में मुद्रित
सन् १९७८

Shio Kumar Ojha
PYASA PANCHHI
Novel

मूल्य : ४.००

१

यह 'जामेयर' का प्लेन भी खूब है। अहले सुबह चार बजे आकाश के अन्धकार को चीरता उड़ जाता है तारों के देश में। दीन-दुनिया से भागनेवालों के लिए कितना अनुकूल है यह प्लेन। और मजे की बात तो यह है कि सीट भी बराबर मिल ही जाती है।

जब एकादशी का चाँद नींद में अलसायी लाल-लाल मदमाती आँखें लिये क्षितिज की गोद में निशारानी की तारों-भरी चूनरी ओढ़ सो गया, तो आखिरी मेहमान भी घर से विदा हुए। ये कमल के साथी थे, जो इंजिनियरिंग कॉलेज में साथ-साथ पढ़े थे। कुछ की शादी साल-दो-साल भीतर ही हो गयी थी, उनमें से कुछ की मँगनी हुई थी। इन्होंने बड़ा ऊधम मचाया।

इनके चले जाने पर घर के सभी व्यक्तियों को जरा विश्राम का मौका मिला। दुलहिन ने खुलकर अँगड़ाई थी। सिर का आँचल खिसककर कन्धों पर जा पड़ा। अब सब मिलकर उपहारों पर टूट पड़े। लगे एक-एक कर देखने, किसने क्या दिया है। प्रभात, कमल; विमल, प्रभात की वहू (बहूरानी), अरुणा (नयी दुलहिन) और विमला सबसे छोटी बहिन—घर के इन व्यक्तियों के अलावे एक और स्त्री थी, जो बाहर की होकर भी घर की थी, तथा घर में होकर भी बाहर की थी : रीता। माँ एवं भाभी तो थक-थकाकर जाने कब की सोने चली गयी थीं। मैं मेहमानों की मेहमानवाजी करते-करते थककर चूर हो रहा था और गले की फाँस (बोटाई) उतारकर दूसरे कमरे में रख रहा था। कुछ जान-बूझकर भी दूर-दूर रहता, कारण बड़ा ठहरा, कहीं छोटे भाई-बहुओं की चुहल में खलल न पड़ जाय, इसका भी तो खयाल रखना था!

विमला हर उपहार का पैकेट एक-एक कर खोलती, रंगीन धागे अलग करती, खोल एक किनारे डालती, तब चम-चम चमकता उपहार सामने आता—

डा. डिल्ली एम० रेड्डी
कल्याणी रेड्डी स्मारक
पुस्तकालय

कॉफी सेट, टेबिल लैम्प, इलेक्ट्रिक आइरन, इयरिंग टाप्स, हेयर पिन्स, पुस्तकें, कलात्मक तसवीरें, पार्कर ६१ सेट······और न जाने क्या-क्या।

एक-एक पर नुक्ताचीनी होती। ठहाके लगते। विमला उछल पड़ती। कमल और अरुणा झपटते।

"यह मेरे लिए है।"

"वाह, सारी चीजें तुम्हीं को थोड़े मिली हैं। उनमें मेरा भी तो कुछ है?"

"जी नहीं, दुलहे को कौन पूछता है, दुलहिन को ही तो सब देते हैं।"

"और क्या? दुलहा भी तो उसी को मिलता है।"

एक जोर की खिलखिलाहट से कमरा गूँज उठता। बेचारी अरुणा झेंप जाती।

विमल लपकता है।

"भाई यह पार्कर का सेट तो मेरे लिए है, क्यों भाभी?"

"हाँ-हाँ क्यों नहीं, मेरे देवरजी······।"

"हाँ-हाँ भाभी, जैसे मैं तो तुम्हारी कोई हूँ ही नहीं, मैं ये कलम नहीं दूँगी किसी को।" विमला ठुनकी।

"अच्छा भाई, एक की कलम एक की पेंसिल।" कमल बोला।

"फिर इसकी पेंसिल मेरी कलम।" विमल अड़ा।

"नहीं, मेरी कलम तेरी पेंसिल।" विमला डर गयी। इतने में बहूरानी ने उपहारों के ढेर में से एक शेफर का सेट निकाला। बोली, "अच्छा भइया विमल, तुम यह सेट ले लो, पार्कर का सेट विमला को दे दो।"

अब तो क्या था, विमला ने विमल को अँगूठा दिखाया। विमल ने शेफर का सेट ले लिया, पर चिढ़कर बोला, "इतने चाव से प्रेजेंट्स खोलती और देखती है, जैसे अपनी ही शादी के हों।"

"जा, तेरी शादी होगी तो तेरी बहू को छोड़ दूँगी। खुद ही खोलेगी, खुद ही देखेगी, दिखायगी। पर भइया तो सियालदह स्टेशन से बहू लाने को कहते हैं, फिर उसे उपहार देगा कौन?" बहूरानी बोली। सभी हँस पड़े।

विमल बोला, "तुम लोग मेरी शादी नहीं करोगे तो मैं क्या करूँगा ? कलकत्ते के ये शरणार्थी ही तो मेरे काम आयेंगे।"

"तुम्हारी वहू कितने वच्चे लेकर आयगी भइया ?"

"तीन !" वड़े इतमीनान से विमल बोल गया। हँसी कमरे में गूँज गयी।

विमला ने एक पैकेट खोला, जिसमें से निकला एक जापानी प्लास्टिक का बेवी सुन्दर, लाल-लाल।

"लो भाभी, यह तुम्हारा है।" कहकर विमला ने प्लास्टिक की वह बेवी अरुणा की गोद में डाल दी। मारे शरम के वेचारी का मुंह लाल हो गया।

कमल बोला, "यह ज़रूर सुरेश का काम होगा। वड़ा पाजी है। कहता है; भई, मैं तो 'फ़्यूचर' देखता हूँ। 'प्रेजेण्ट' के चक्कर में कौन पड़े।"

विमल ने नयी भाभी की खूब चुटकी ली।

एक पैकेट में रेशम की नफीस लेडीज रूमाल निकाली और जेण्ट्स भी। सभी ने एक-एक रूमाल पर कब्जा जमाया। रीता को भी एक हाथ लगी।

अव तक मैंने कपड़े वदल डाले थे। गाउन डालकर शामिल होने ही वाला था कि एक पैकेट को लेकर सभी में काफी चुहल शुरू हो गयी। छोटा-सा सुनहरे कागज में लिपटा डब्बा था। विमला ने कहा, "अच्छा भई, बूझो इसमें क्या है ?"

विमल बोला, "हाथी।"

सभी ठठाकर हँस पड़े। उसने जोड़ा इतमीनान से—"संगमरमर का…"

और हँसी गूँजी।

वहूरानी बोली, "कान के टॉप्स।"

अरुणा बोली, "अंगूठी।"

कमल बोला, "टाई पिन।"

रीता बोली, "हेयर पिन्स।"

विमला ने जोड़ा, "लाकेट।"

कल्याणी देवी स्मारक
पुस्तकालय

अंत में तय यह पाया कि लाटरी लग जाय, किसे यह पैकेट मिलेगा। तभी मैं भी शामिल हो गया। लाटरी के पैकेट को देखकर मैं जरा-सा चौंका, फिर देखने लगा।

हर व्यक्ति का नाम एक पुरजे पर लिखा गया, फिर सभी पुरजे मोड़ दिये गये। विमला ने उन्हें अच्छी तरह फेंट दिया और तब दुलहिन के सामने रख गया। वह किसी भी एक पुरजे को उठा लेगी और जिसका नाम उसमें होगा, उसको वह पैकेट मिलेगा, यही खेल था।

जब पुरजों का ढेर एक तश्तरी में अरुणा के सामने रखा गया, तो सभी के चेहरों पर कौतूहल था, छाती धक-धक करती थी, "देखें किसे मिलता है।"

दुलहिन ने एक पुरजा उठाया। दुलहे को खोलकर पढ़ने को दिया। कमल ने पढ़ा, "रीता !"

तालियाँ बज उठीं। खिलखिलाहट कमरे में गूँज गयी। रीता फूली न समायी। मैं व्यग्र हो उठा।

कमल ने वह पैकेट विमला से लेकर रीता को भेंट किया और कहा, "दीदी बड़ी खुश-किस्मत हैं।"

"दीदी या वऊदी ?"

विमल ने जोड़ा। वड़ा शैतान है। वरावर रीता को यूँ ही चिढ़ाता है। उसे छेड़ने में मजा आता है। कभी तो रीता को 'वऊदी' कहेंगा और कभी पूछेगा, "क्यों प्रोफेसर का ,फेमिनिन जेंडर' क्या है? प्रोफ़ेसरानी ? बोलिये न प्रोफेसरानी साहिवा।"

रीता तुरन्त उसका कान पकड़कर उमेठती है, तो चिल्लाकर वोलता है, "अच्छा वऊदी, कुछ न कहूँगा। अभी स्टूडेण्ट हूँ तभी इतना रोव गाँठ लेती हो।"

रीता लड़कियों के कॉलेज में प्रोफ़ेसर है। उम्र तीस वर्ष, रंग सुनहरा, रूप सौम्य, वदन छरहरा, मुस्कान वरावर अधरों पर खेलती रहती है।

हाँ, तो अब सभी ने हठ किया रीता से, वह खोलकर दिखाये, पैकेट में है क्या ? और रीता ने धीरे-धीरे ऊपर का रंगीन काग़ज, फिरा रेशमी धागा

खोलकर अलग किया, तब खूबसूरत डब्बा निकला—एकदम से लाल। उसका भी बटन दबाकर खोला, तो निकला क्या ?

सोने की डिबिया, सिन्दूर की !

और, एक पैकेट सोहाग सिन्दूर !!

और एक कार्ड जिस पर लिखा था—प्रकाश। अब तो काटो तो किसी को खून नहीं। सभी अवाक् ! एक दूसरे का मुँह ताकने लगे।

रीता को तो मानो काठ मार गया। हाथ की डिबिया हाथ ही में रह गयी। कुछ देर वह उस सोने की डिबिये को एकटक ताकती रही, फिर उसका हाथ काँप उठा, सारा तन काँप उठा, नयन-कोर गीले होते-होते वह उठकर पास के कमरे में भाग गयी।

अनजाने अचानक उसको करारी ठेस लग गयी, मैं जानता था। मैं न जानता तो और जानता भी कौन ?

रंग में भंग !

मैं जो सान्त्वना देने गया, तो वह फूट पड़ी। लाज का रहा सहा बाँध भी रात्रि के इस चौथे पहर में वह गया। उसे उसके घर छोड़ आने के बहाने मैं तुरन्त उसे बाहर ले गया। कार में बिठाया और ड्राइव करते हुए 'लेक' की ओर ले गया। वह रास्ते-भर मेरे कंधों पर सिर धरे सिसक-सिसककर रोती रही।

यदा-कदा जो उसके कंधों—कपोलों को थपथपाया, तो चुप होने के बजाय वह और भी सिसकने लगी।

साढ़े तीन बजे चले तो मैंने कार दमदम एयरपोर्ट की ओर मोड़ी और तेजी से भगाता हुआ 'जामेयर' के 'हंगार' में पहुँचा।

रीता से मौन विदा लेकर मैं जामेयर के प्लेन में बैठ गया। वह एकटक ताकती रही।

जब प्लेन आकाश में ऊँचे पहुँचा, तो नीचे लगा जैसे सारी नगरी में दीवाली मनायी जा रही हो, चमचम दीपमालाएँ। कभी लगता, सारा नगर

बहती गंगा है जिसमें कजरी-तीज के दीप सहस्रों की तादाद में बहे जा रहे हैं। कभी लगता, प्रकाश के फूल खिले हैं।

और इन खुशियों के बीच जाने कितने दिल तड़पते होंगे। कितने प्राण सिसकते होंगे। कौन जाने ? कौन कहे !

आज के बिछड़े न जाने कब मिलेंगे।

● ● ●

२

दिन-भर की भाग-दौड़ व रात-भर के जागरण से तन थककर चूर-चूर हो रहा था। उसे आराम की सख्त जरूरत थी, पर मन को इतना बड़ा कोड़ा लगा था कि वह किसी को चैन न लेने देता। आँखें थीं जो नींद में अलसाने के बजाय अंगारे की तरह जलती थीं और मैं टक-टक प्लेन की खिड़की से बाहर झाँक रहा था। कहीं उमड़ता-घुमड़ता अंधकार और कहीं कुहरों का कुण्डली मारे सर्प की तरह जमना।

मैं सोचता, सम्भवतः मेरा जीवन भी यूँ ही अन्धकारमय हो गया है, जिसमें गम का सर्प कुण्डली मारे जमा पड़ा है और रह-रहकर फुत्कार उठता है। इसने मेरी आँखों की नींद छीन ली, मेरे दिल का चैन हर लिया।

पाँच बजते-बजते पूरब का सारा क्षितिज लाल होने लगा। मैंने सोचा, यह उषा के अधरों की लाली है। मुस्कराया।

लगा, जैसे रात के मुँह-अँधेरे में ही सुनसान पाकर चुपके-चुपके रवि ने उषारानी की माँग को लाघवपूर्वक सिन्दूर तिलकित भाल बना दिया। बेचारी

मारे लाज के सिमट गयी, पर सिंदूर की लाली तो इस छोर से उस छोर तक फैल गयी ।

इस विचार के आते ही मैं और भी व्यग्र हो उठा । उस अंतहीन लाली को एकटक देखता रहा । देखता रहा और सोचता रहा—मैंने भी क्यों नहीं उस सोने की डिबिया से एक चुटकी सिन्दूर लेकर रीता की माँग भर दी ! उसका असमंजस, संकोच—सब कुछ मिट जाता । पल-भर में वह सोहागिन बन जाती । इस उम्र में क्वाँरी बिटिया न लगकर जाने कैसी दीखती है ।

मैं अपने आप से बार-बार पूछने लगा—

मैंने, ऐसा क्यों नहीं किया ?

मैंने रीता की माँग क्यों न भरी ?

क्यों नहीं ? क्यों नहीं ?

कायर ! बुजदिल !

और इस तरह एक बार जो सोचना शुरू किया तो सोचता ही चला गया । कहीं रुकने का नाम नहीं ।

रीता की माँग में सिन्दूर भर देता तो मेरे प्यार की दुनिया बस जाती । अन्तहीन अंतरिक्ष में अनवरत उड़नेवाले पंछियों के एक जोड़े को बसेरा मिल जाता । तब तो फिर क्या था, हमारे सोने के दिन होते, चाँदी की रातें, फूलों में वसन्त मुस्कराता, हवाओं में बहार छेड़ती फिरती ।····और जाने क्या होता ?····क्या-क्या होता !

पर, विमला ?

मेरी छोटी बहन की शादी में हजार बाधाएँ पड़ जातीं । मैं ब्राह्मण हूँ, रीता कायस्थ है । हमारी शादी को लेकर समाज में हजार बातें उठतीं । खैर, उसकी तो मुझे चिन्ता नहीं । पर, विमला की शादी का क्या होता ?

और यदि विमला की शादी रुक जाती तो ?

मेरे ललाट और कन्धे पर पसीने की बूँदें उभर आयीं । मैं इस कशमकश में डूबने-उतराने लगा । तब तक एकाएक ध्यान गया कि मेरी बगल में जो श्वेत

युवती बैठी है और गाढ़ी निद्रा में है, उसने अनजाने अपना सिर मेरे कंधे पर टेक लिया है।

कितना प्यारा है चेहरा उसका। शायद रात-भर कहीं 'प्रिंसेज' या 'मैक्जिम' के बार में किसी दोस्त के साथ जागी होगी, पी होगी। मुँह से हल्की-हल्की ह्विस्की की सुवास आ रही है। साथ-साथ सुवासित पाउडर की गंध भी मेरी नाक में भर रही है। यह सुनहरी केशराशि, यह रूप-सागर, यह बालकों-जैसी निश्चिन्त निद्रा !

काश, मैं भी यूँ ही सो सकता।

मैंने अपना भी कम्बल उसी पर डाल दिया व अपना कन्धा हिलाया नहीं, कहीं उसकी नींद उचट न जाय। और फिर अपने विचारों की गुत्थी सुलझाने में लीन हो गया।

कहीं रीता को भी साथ लाया होता। उसको भी साथ क्यों नहीं लाया ?

बुद्धू।

तब तो मेरे इन कंधों पर रीता का सिर होता। मैं उसे थपकाकर सुला देता। जरूर सुला देता। कौन जाने मैं भी सो जाता !

बेचारी को अकेले तड़पने को छोड़ आया।

मैं अभागा हूँ, मेरे कदम अभागे हैं। मैं तड़पने-तड़पाने के ही लिए पैदा हुआ हूँ। इस रीता को चौदह वर्ष से तड़पा रहा हूँ।

पूरे चौदह !

मुझे आज भी याद है वह सुनहरी संध्या, जब हम पहले-पहल मिले थे। उन दिनों मैं लखनऊ यूनिवर्सिटी में बी० काम० में पढ़ता था।

एक दिन प्रो० लाल ने बुलाकर पूछा, "कैसी पढ़ाई चल रही है ?"

"बस ठीक ही ठीक है।" मैंने आहिस्ते से कहा।

जानता था, यह सब तो मात्र भूमिका है। प्रो० साहब को बात कुछ और कहनी होगी। इसलिए उत्सुक भाव से मैं उनकी ओर देखने लगा, वास्तविकता की प्रतीक्षा में।

"फर्स्ट क्लास तो आ जायगा ?"

"कोशिश तो कर रहा हूँ। क्या पता ?"

"शाम को क्या किया करते हो ?"

"कुछ भी नहीं।"

"कोई गेम्स वगैरह ?"

"टेनिस खेल लेता हूँ कभी-कभी।"

"कुछ बैडमिण्टन से भी शौक है ?"

"क्यों नहीं ? थोड़ा-वहुत।"

मैं मुस्कराया। वात अव कुछ शक्ल इख्तियार कर रही थी, पर अभी तक उसका सिर-पैर समझ में न आया था।

फिर शाम को क्यों नहीं चले आते मेरे यहाँ। वहीं दो-चार गेम बैडमिण्टन के···।

"जी अच्छा।"

"पढ़ाई का नुकसान तो न होगा ? पूछते हुए वे मुस्कराए।

"जी नहीं।" मैं भी मुस्कराया।

वात यों समाप्त हुई और मैं नमस्कार कर भागा। कुछ भी समझ में न आया, यह वला कैसी होगी। प्रो० लाल कॉमर्स में सीनियर प्रोफेसर तथा हेड ऑफ डिपार्टमेण्ट थे। उनकी वात टालता भी कैसे ? हाँ, इतना जरूर सोचता था कि केवल दो की गेम जँचेगी नहीं। मैं तो थोड़ी देर में 'वोर' हो जाऊँगा। कोई और भी होता !

कोई और भी होता।

पर कौन ?

जाड़े के दिन थे, मगर अभी तो गुलावी जाड़ा ही पड़ता था। लगभग चार वजे शाम को मैं प्रो० साहव के वंगले पर हाजिर हो गया। साइकिल एक किनारे खड़ी की और रैकैट हाथ में लिये उस ओर चला, जहाँ बैडमिण्टन का जाल तना था। पर, यह क्या ?

यहाँ तो प्रो० साहव एक लगभग सोलह साल की लड़की के साथ गेम खेल रहे हैं। एक बारह-तेरह साल की लड़की वेंत की कुरसी पर बैठी गेम देख

रही है। मैं चुपके से जाकर इस लड़की के पास खड़ा हो गया। उसने कुछ विशेष ध्यान न दिया।

मेरी निगाह खेलनेवाली लड़की पर पड़ी। जब उसने बाँह उठाकर बड़े जोर से 'चिड़िये' को मारा और बेचारी चिड़िया चोट खाकर जाल में फंस गयी। हमारी निगाहें साथ ही भूलतीं 'शटल' पर पड़ीं और अनजाने हम मुस्करा दिये। वह चिड़िये को पकड़ने दौड़ी, तब तक प्रो० लाल मेरी ओर मुखातिब हो बोले, "अच्छा, प्रकाश ?.... आओ तुम्हारा परिचय अपनी लड़कियों से कराऊँ।"

इतने में एक हाथ में रैकेट और दूसरे में चिड़िया लिये खेलनेवाली लड़की पास आ गयी। उसके कंधे पर हाथ रखते हुए प्रो० साहब बोले, "यह है हमारी बड़ी लड़की, रीता, सीनियर केम्ब्रिज में है, और यह प्रकाश, मेरे विद्यार्थी।"

हम दोनों ने परस्पर हाथ जोड़ दिये। ऐसा करते समय मैंने तो रैकेट बगल में दबा लिया, पर उसने हाथ में ही रखा, इसलिए रैकेट की जाली से पार होकर किरनों की एक जाली उसके चेहरे पर बुन गयी।

आँखे मिलीं। उसकीं आँखें नत हो गयीं। मैं प्रो० साहब की ओर ताकने लगा। तभी वे मुस्कुराते हुए बोले, "इसे उतनी सीधी न समझना जैसी अभी लगती है, एक ही शैतान हैं। सावधान न रहे तो तुम्हारा कान काट लेगी।"

मैंने तुरंत अपने कान टटोले। सभी ठठाकर हँस पड़े। अब छोटी लड़की आयी। प्रो०साहब बोले, "और ये रही मीता। अभी आठवीं में है, ये प्रकाश....।"

मीता ने लपककर हाथ मिलाया और मध्य स्वर में बोली, "हाउ डू यू डू ? हाउ डू यू डू ?"

हम बहुत हँसे। हाथ छोड़ते-छोड़ते उसने एक जोर का झटका दिया। मैं गिरते-गिरते बचा।

फिर हँसी का फौव्वारा छूटा।

प्रो० साहब बोले, "इसका नमूना तो देख ही लिया।"

फिर हँसी छूटी। बोले, "आओ, अब चार की गेम हो जाय।"

अब कहीं जाकर उनका मकसद मेरी समझ में आया। तो मैं चार का सेट पूरा करने के लिए........

मैं अभी कुछ गुन ही रहा था कि प्रो० साहब बोले, "अच्छा प्रकाश, तुम अपना पार्टनर चुन लो।"

पार्टनर ? अपना पार्टनर ?"

मैं मन-ही-मन चौंका फिर स्वस्थ होकर मैंने रीता, मीता दोनों की ओर देखा। फिर रीता पर निगाहें थम गयीं। रीता ने भी मेरी ओर देखा और निगाहें झुका लीं ! प्रो० साहब समझदार थे। बोले, "अच्छा, तो रीता तुम्हारी ओर। चल मीता मेरे साथ।"

मीता जरा मुँह बनाती हुई बोली, "बड़े वो हैं, जीजी को पार्टनर बनाया मुझे नहीं।"

उसने ऐसे उलहने के लहजे में कहा कि हम सभी हँसे बिना न रह सके।

मैं और रीता साथ चले जाली के दूसरी ओर।

मैं, और मेरी पार्टनर रीता।

अव मैं आँखों में वसी उस छवि को तो कागज पर उतार दूँ, जो चौदह वर्षों में भी धुँधली न हो सकी। क्या बताऊँ उस रूप-रस-रंग-गंध के वारे में, जो समय के बीतने के साथ और भी मोहक, प्रच्छन्न और गन्धायमान हो जाता है।

कभी-कभी तो झिझक होती है, मन में बसी उस नैसर्गिक प्रतिमा को जग के सामने क्यों रखूं ? कहीं किसी की नजर लग गयी तो ? हृदय के कुछ भाव सचमुच अप्रकाश्य होते हैं न !

यदि मैं चित्रकार होता, तो उसकी छवि ही उतार देता ज्यों-की-त्यों....श्वेत धारीदार सलवार जिसमें हज़ार लहरें बल खातीं, क्रेसन्थमय बने फूलोंवाले बोल्ड प्रिण्ट की कमीज जो तन से यूँ चिपकी पड़ी थी, मानो उभरते यौवन को कावू में करने का काम उसी को सौंपा गया हो। कमर के ऊपर की हरी-भरी रंगीन घाटियाँ, फिर नन्हीं-नन्हीं शैल-चोटियाँ, खिले हुए फूलों की वहार, मृणाल-सी लम्बी-लम्बी वाँहें !

और इन सबके ऊपर वह लम्बी-सी सुराहीदार सुडौल गर्दन, कमीज की कट ऐसी कि आधे वक्ष खुले, आधी पीठ खुली, जिन पर लहराती दो लम्बी-लम्बी काली नागिन-सी चोटियाँ, जो हर कदम पर थर-थर काँपती और वल खातीं। और चेहरा तो क्या ? जो दिन को स्वर्णाभ बिखेरे, रात में रजताभ वरसाये। इकहरा छरहरा वदन, वड़ी-वड़ी आँखें, कमल-कोयों को लज्जित करने-वाली। कोई भला उनको मूँदे तो ? किनारों के छोर से जरूर दिख जायेंगे, इतने वड़े नेत्र, पतले-पतले रसीले होंठ। दूर से देखने पर कितनी लम्बी लगती है रीता, पर पास आने पर भ्रम मिट जाता है।

और वह श्वेत जालीदार चुन्नी, जो फूलों की वहार में झूमती चोटियों एवं घाटियों पर चाँदनी के झीने-झीने आवरण-सी लहराकर आँखमिचौनी खेलती रहती है तथा उनको विविध रूपों और आकारों में वरावर पेश करती है, हर क्षण नयी लाइट, नया शेड।

उन अपूर्वस्पर्शित अधरों को तनिक एक वार फिर से देखिये ना ? लगता है मुस्कान पी जाने का प्रयत्न वरावर करते हैं, पर पीते-पीते भी कुछ तो छलक पड़ती ही है, कुछ अधरों से, कुछ नयनों से।

और पानेवाले को क्या ? दो-चार वूँदें ही वेहोश करने को वहुत हैं।

मैंने कहा न, वह रूप मुझसे कागज पर उतरेगा ही नहीं, मैं कलाकार नहीं। कुछ वँधा नहीं। मन में वसी चीज वहीं-की-वहीं रह गयी। आप इसी से काम चलाइए। आपकी किस्मत में मात्र यह छाया ही लिखी है। गोसाईं जी की तरह यदि मैं सात समुद्रों को इन्द्रधनुष के सात रंगों से भर दूँ तथा विराट तूलिका लेकर सारे विश्व के शून्य पर उस छवि को आँकू तब भी मुझे संतोष न होगा।

रही वात लिखने की। सो शेष जीवन केवल उस एक पहली झाँकी को उतारता रहूँ, तव भी शायद ही कभी पूरा कर सकूँ।

सव तो सव, नागिन की आँखों के उस नशे को कागज पर कैसे उतारूँगा जो निगाहों-निगाहों में ही पार हो जाता है और रह-रहकर लहरें आती हैं। पता

नहीं चलता, अमृत है या विष। भला उस मदहोशी को क्या कहूँ ? कैसे कहूँ ?

चलिए, अब खेल देखें।

मेरे पार्टनर के साथ पहला खेल।

चलते-चलते रीता ने कहा, "पहले आप 'सर्व' कीजिएगा।"

"किब्ला आप ?"

हम मुस्कराये धीरे से।

"क्यों ?" बड़ी-बड़ी आँखें गड़ गयीं मेरे चेहरे पर प्रश्न-सूचक चिह्न लिए!

"लेडीज फर्स्ट !"

"ओ० के०।"

फिर रीता दाहिने बाजू गयी और मैं बायें।

खेल आरम्भ हो गया। चिड़िया चोट खा-खाकर हवा में उड़ने लगी। प्रोफेसर साहब अच्छा खेलते हैं, रीता भी हर चोट को लौटाती है। मीता थोड़ा कमज़ोर पड़ती है। मेरा पार्टनर पूरे फार्म में है। अंग-अंग से उत्साह छलका पड़ता है।

एक बार 'नेट' के पास उसने पूरी बाँह आकाश में उठाकर रैकेट से बड़े जोर से चिड़िये को मारा; वह नेट के दूसरी ओर ढेर हो गयी। प्रोफेसर साहब उठा न सके।

दोनों ओर से 'वंडरफुल' की आवाज आती पर, जन्मजात संस्कार के कारण रीता ने बाँहें नीची करते ही मेरी ओर ताका। और शायद तब वह बहुत कुछ समझ गयी। साइड बदलने की बारी थी। साथ-साथ चलती हुई धीरे से बोली, "ऐंहे, आप क्या देख रहे थे ?"

"आपकी कलाई की करामात।"

उसने चोर पकड़ा था। पूछा, "आपने नजरें झुकाना नहीं सीखा है ?"

"मैं लड़का हूँ, लड़की नहीं।"

मैंने ढीठ होकर कहा। पर, जब उसने मेरी ओर ताका, तो मेरी निगाहें स्वतः झुक गयीं। वह बोली, "हाँ, यूँ ही। अब ठीक है।"

मुझे लगा जैसे जाड़े में एक गरम हवा का झोंका मेरे तन-मन से पार हो गया। वह बोली, "अब आप नेट के पास खेलिए, मैं पीछे सँभाल लूंगी।"

इतनी बड़ी सजा! फिर मुंह से निकल गया। और मैं झेंपता हुआ नेट के पास चला गया। निगाहें फेरकर एक बार देखने को जी तो ललचाया, पर साहस न हुआ।

खेल चलता रहा और मैं अपने पास ही होनेवाले उछल-कूद व रैकेट की एक-एक चोट को महसूस करता रहा। वे पांव तो क्या थे जैसे उनमें कोई स्प्रिग लगी थी। रीता कोर्ट के एक छोर से दूसरे छोर तक बिजली-सी कौंधती रहती और प्रोफेसर साहब थे कि बराबर, बारी-बारी से कोनों पर ही मारते ताकि रीता थककर उठा न सके।

इस बार चुन्नी ने भी दूसरी शक्ल इख्तियार कर ली, वह कमर और कंधों पर ऐसे बँधी थी, जैसे पुलिस के सार्जेण्ट बांधते हैं—चमड़े की चौड़ी पेटी। कमर को घेरकर मजबूती से बांधते हुए वह श्वेत जाली पर चुन्नी नागिन के केंचुल-जैसी कमर के बायें छोर से उठकर रंगीन घाटियों को पार कर शैल-शिखर के मध्य से बचकर निकलती हुई सुनहले दाहिने कंधे पर सवार हो गयी थी और वहाँ से पीठ को तिरछे पार करती हुई फिर कमर से जा लिपटी थी। और यह सब केवल इसलिए कि कमीज फड़फड़ाये नहीं, चुन्नी हवा में लहराये नहीं। ठीक यूँ जैसे बरसात में हरी-भरी नुकीली पहाड़ियों के बीच से 'तिश्ता' का श्वेत जल दहाड़ता, नाग-सा फुफकारता हुआ बहता है कालिम्पांग के पथ में।

कितनी ही बार इस रूप-राशि को पीते हुए मैं 'शटल' को 'मिस' कर गया। पता नहीं प्रोफेसर साहब ने कहाँ तक भाँपा, पर मैं रीता की निगाहों से बच न सका। आँखों-आँखों में ही झिड़की पड़ी। मैंने निगाहें झुका लीं।

हम हार गये। प्रोफेसर साहब जीते। इस खेल में प्रोफेसर साहब से बदला लेने के लिए मैंने भी 'मीता' को काफ़ी दौड़ाया और थकाया। वह मन-ही-मन मुझसे और नाराज हो गयी।

पास आने पर रीता धीरे से बोली- "आप पूरे भोंदू हैं।

"सुभान् अल्लाह ! यह पहली खिताब है ।"

वह कट गयी। झेंपकर गुस्से में बोली, "मैं डैडी को बराबर मात देती हूँ। आज उल्टा हो गया।"

"मरे करते ! क्यों ?"

"और क्या ?"

"फिर एक गेम मेरी आपकी हो जाय ?"

"ओ० के० ।"

सुरीला स्वर हवा में संगीत घोल गया। उसके कण्ठ से हिन्दी के शब्द सुनकर ऐसा लगता था, जैसे वह हिन्दी पर कृपा करती हो। वैसे उसे उर्दू-मिली हिन्दी का अभ्यास ज्यादा था और उससे भी अधिक अंग्रेजी का। लोरेये में पढ़ती जो थी।

पच्छिम आकाश से सूरज ने सोने की रंग-भरी पीत पिचकारी खाली कर अब राग-अनुराग के लाल रंग भरकर धरती की चुनरी को सरावोर करना आरम्भ किया था। बेचारी रीता भी उसी पिचकारी में नीचे से ऊपर तक नहाये जा रही थी कि प्रोफेसर साहब बोले, "भई प्रकाश, मैं तो दो गेम खेल चुका और थक भी गया। अब चाय पी जाय तो कैसा ?"

मैं चुप ही था, तब तक रीता बोली, "नहीं डैडी, देखो अभी कितना दिन बाकी है, और मैं तो अभी थकी ही नहीं। प्रकाशबाबू तो केवल एक गेम खेले हैं। हम दोनों एक गेम सिंगल्स खेलें ?"

कहते-कहते मिन्नत के लिए उसने डैडी के गले में बाँहें डाल दीं। बाहुपाश छुड़ाते हुए उसका दोनों हाथ अपने हाथ में ले, प्रोफेसर साहब बोले, "अच्छा, जा खेल। मगर अंधेरा हो जायगा।"

रीता की पीठ थपथपायी। वह रैकेट लिये पास ही खड़ी थी। बोली, "प्रकाश-बाबू को अँधेरे में दिखायी देता है।"

हम सभी खिलखिलाकर हँस पड़े।

प्रोफेसर साहब बंगले के भीतर चले गये। मीता हमारा गेम देखने के लिए जमी रही। अब गेम सरगरमी से शुरू हुआ। बेचारी शटल बाम्ब की तरह इस

पार से उस पार भागती । लगता, हवा में तीर छूट रहे हैं । थोड़ी ही देर में उसके चेहरे पर पसीने की बूंदें सूरज की लाल किरनों की धार पर चमकीं । जाड़े में भी मैं पसीने से भींग चला ।

क्या हमारे मन में होड़ लगी थी ? यह कैसी होड़ थी ? कैसी बाजी ?

मेरी निगाहें थीं कि बराबर चिड़िये पर जमी रहतीं । हाँ, कभी-कभी चिड़िये पर चोट करनेवाले पर भी जम जातीं । अपनी शान खतरे में थी । अपनी इज्जत की बाजी थी ।

एक छोकरी से मात खाना ? हुँः ।

जब प्रीत की इस क्रीड़ा को देखते-देखते मुस्कराता हुआ सूरज गुलाल बरसाता, आशीष देता चुपके-चुपके क्षितिज की ओट में छिप गया, तो मीता भी वहाँ से खिसक चली । बच गये हम दो खिलाड़ी । खेलते भी और एक दूसरे का गेम भी देखते ।

पाँच का गेम था, जिसमें तीन सेट समाप्त हो चुका था । दो मैं जीत चुका था एक रीता । अब चौथा चल रहा था । यदि मैं उसे भी जीत जाता, तो गेम खत्म हो जाता । पर मैं ऐसा भला कैसे होने देता ? गेम में अभी-अभी तो मजा आने लगा था ।

मैं जान-बूझकर थोड़ा ढीला पड़ा । अब अँधेरा घना हो चला । बँगले के भीतर से मीता चिल्लायी, "जीजी, रोशनी लगवा दूँ ?"

"नहीं, हीं-हीं-ईं ।"

रीता का सुरीला स्वर गूँज उठा । चौथा सेट खत्म हो रहा था । साइड बदलते हुए हम जो मिले, तो मैंने धीरे से पूछा, "क्यों ?"

"अँधेरे में मजा आता है ।"

"और प्रकाशबाबू को दिखायी देता है ।" मैंने जोड़ा ।

वह मुस्करायी । अभी तक गेम ड्रॉ में था । दो उसके, दो मेरे । अब आखिरी गेम था । वह पूरे उत्साह एवं फार्म में थी, पसीने से तर ।

आकाश में अंधकार और लाली दोनों गाढ़े हो चले थे, जैसे होड़ लगी हो । होली तो सूरज समाप्त कर गया, पर कितना रंग बिखेर गया ?

मैंने सोचा, कैसा अहमक हूँ। यदि पाँचवा गेम जीत गया, तो रीता का नन्हा-सा दिल टूट न जायगा ? पर, आसानी से जाने देना ठीक नहीं। नहीं तो वह एक काइयाँ है। भाँप जायगी।

लव आल। पर मैंने खेल अटकाया। रीता उकतायी। उसने मौका पाकर अँधेरे में चिड़िया मेरे सिर पर दे मारी। मैंने भी रोका नहीं।

केवल पूछा, "क्या इरादे हैं ?"

वह मुस्करायी, "कुछ भी नहीं ! सॉरी !"

अगली वार जो मैंने तानकर मारा, तो चिड़िया उसके वक्ष में जा लगी। वह जरा-सी तिलमिलायी। मुस्करायी। उसने वहाँ सहलाया और मेरे पास आकर कहा, "अब खेल खत्म। चलिए डैडी चाय पर।

"इन्तजार कर रहें होंगे।"

"और यह लव आल ?" मैंने छेड़ा।

"यह यूँ ही रहेगा,""लव आल"" !"

× × ×

और यह लीजिए आ गया सेगाँव का एयर स्ट्रिप। ऊपर से सूरज ने सवेरे-सबेरे प्रीत-पिचकारी से चाय के खेतों, छायावृक्षों के तनों, तथा हिमालय की चोटियों को लाल-पीले रंग से नहला दिया। भूटान की पहाड़ियों पर हिम-किरीट देखिए। श्वेत चमकता जमा हुआ धवल हीरा। आह, कितना प्यारा लगता है।

मेरे तपते मन के लिए यह कितना मोहक दृश्य है ? सुन्दरी के नयन-पलक खुले। शरमाती हुई पहले 'सॉरी' बोली, फिर कम्बल अलग करते हुए उसने 'थैंक यू' कहा।

हम दोनों बाहर आये। उसके डैडी-ममी लेने आये हैं। उन्होंने उसे अँकवार में भर के चुम्बन लिया। मैं खोयी-खोयी, ललचायी आँखों से ताकता रहा।

हाय री रीता !

उनके आमन्त्रण पर उन्हीं की गाड़ी में मैं अपने दोस्त भाटिया के बँगले पहुँचा।

मिस और मिसेज भाटिया ने सिर-आँखों पर उठा लिया।

मेरे तपते मन को स्नेह की छाया मिली।

• • •

३

शेव करने के वाद गरम जल से भरे बाथटब में मैं देर तक पड़ा रहा। गुनगुना जल तन को कितना प्यारा लगता है। नहा-धो और कपड़े बदल मैं जो बाहर निकला, तो बंगले के बरामदे में जाड़ों की सुहानी धूप मुस्करा रही थी। सामने चाय के हरे-भरे खेत व छाया-वृक्ष खेतों के बीच से जाती हुई मजूर-मण्डली की हँसी, कदम-कदम पर छोकरियों की खिलखिलाहट।

मैंने अपने मनहूस तपते मन से मिलान किया। ये कितने खुशकिस्मत हैं। खुलकर हँस तो लेते हैं।

भला किस बात पर हँसते होंगे?

काने को काना कहने से नाराज होने पर?

रामू ने कंकड़ी मारीं, सोमारी को और लगी बुधिया को?

बुधिया ने गालियों की बौछार कर दी।

पगला साहब फैक्टरी, की चिमनी पर चढ़ गया, जैसे ताड़ीवाले ताड़ी लेने ताड़ पर चढ़ते हैं?

कौन जाने? कौन कहे?

वरामदे में छोटी हाजिरी की मेज लगी है काँटे, चम्मच, नैप्किन, जाम, टोस्ट, फल, वगैरह जाने क्या-क्या सजा है। यह लीजिए आगयीं मिसेज भाटिया भी। अब इनको इनके प्रथम नाम से पुकारूँ। ये हैं वीणाजी, बड़ी सुन्दर, सभ्य, सुशील, मिरांडा हाउस दिल्ली की पढ़ी हुई—नृत्य-संगीत में पारंगत, बस कुछ न पूछिए।

आते ही बोलीं, "भाई साहब, आप बड़े मौके से आये।"

"क्यों ?"

"आज हमारी शादी की साल-गिरह जो है।"

"कौन सी ? दूसरी ?"

"ओह !"

वे खिलखिलाकर हँस पड़ीं। मैं मुस्कराने के साथ झेंपा भी। वह बोली, "इस नेक ख्याल के लिए शुक्रिया।....मगर आप जाने किस ख्याल में खोये खोये-से रहते हैं। क्या हमारी शादी आपको कुछ याद नहीं ? थे तो आप भी शामिल...."

भला मैं क्या बताऊँ कि मेरी तो प्यार की दुनिया ही खो गयी। कुछ भी याद न रहा। भला किस-किस की शादी याद रखूँ, जब अपनी ही शादी कर न सका। मैं झेंपता हुआ उनका मुँह ताकने लगा। तभी वे जरा जोर से बोली, "ऐ डी, सुनते हो ? ये प्रकाश भाईसाहब क्या कह रहे हैं ?"

वे दिनेश को केवल 'डी' कहा करती हैं, शायद यह नाम 'दिनेश' उनको पसन्द नहीं। पुरानेपन की गन्ध आती है।

दिनेश रेडियो सेट कर रहा था 'सीलोन' के मीटर पर। ठीक करते हुए उसने ड्राइंगरूम से ही पूछा, "क्या कहते हैं ?"

"कि हमारी शादी हुए केवल दो वरस हुए।"

"अच्छा !" कहते-कहते दिनेश भी आ गया।

अब हम तीनों कुर्सियों पर वैठे ब्रेकफास्ट लेने लगे। नैप्किन हाथ से खोलती हुई वीणाजी बोलीं, "भाईसाहब, मेरी शादी के पूरे पाँच वरस हो गये। आज फिफ्थ ऐनिवर्सरी है।" क्या, समझे ?"

"मेरी नहीं वीणा, हमारी ।" दिनेश ने छेड़ा ।

"हाँ डी, तुम्हारी भी तो शादी आज ही के दिन हुई थी । मैं तो यह बात भूल ही रही थी ।"

हँसी का एक फुहारा छूटा और हम तीनों उसमें सराबोर हो गये ।

फिर बात चली 'पॉरिज' पर । वीणाजी बोलीं, "घर की बनी गेहूँ की दलिया 'रिण्ड पारिज' से अधिक स्वास्थ्यकर होती हैं । डाक्टर दत्ता ने ऐसा कहा है ।"

मैंने देखा कि दलिया केवल हम दो खा रहे हैं, दिनेश और मैं । वे तो चाय ढालने में ही व्यस्त हैं । मैंने जोड़ा, "डाक्टर ने यह भी तो कहा है कि गेहूँ की दलिया फैटेनिंग है ।"

वे मुस्करायी । संकेत समझ गयीं । बोलीं, "मैं स्लिमिंग डायट पर नहीं हूँ । जब बेबी हुई थी तो लेती थी । अब कोई जरूरत नहीं ।"

प्लेटें बदलीं, कोर्स बदला । रेडियो सीलोन ने लोमा टाइम एलान किया फिर मुकेशजी का सुप्रसिद्ध गीत चल पड़ा—

"सब कुछ सीखा मैंने
न सीखी होशियारी ।
सच है दुनिया वालों
कि हम है अनाड़ी ।"

मुझे यह गीत बेहद पसन्द है । कितना मौजू है यह मेरी जिन्दगी पर । तभी दिल के तार-तार को छू लेता है । और सबसे बड़ी बात तो यह है कि मैंने यह 'अनाड़ी' फिलम रीता के साथ देखी थी और उसने कहा था, "प्रकाश, तुम सचमुच अनाड़ी हो ! पूरे अनाड़ी ।"

मैं एक टोस्ट में छुरी से मक्खन लगा रहा हूँ, और लगाये जा रहा हूँ । उधर कुछ भी ध्यान नहीं । रीता के ख्याल में खोया हूँ कि वीणाजी ने टोक दिया, "भाई साहब, यह कितनी देर तक मक्खन लगाइएगा । आप किस ख्याल में खोये हैं ?"

मैं एकाएक चौंक पड़ा। झेंपते हुए टोस्ट प्लेट में रखकर बोला, "मैं सोचता हूँ, क्या कभी मुकेश की तरह मैं गा सकूँगा ?"

"मगर मैंने तो सुना है, आपको मुकेश के गीत पसन्द नहीं ?"

"हाँ, पर इस गीत की बात और है। उसे तो उसने मेरे मुँह से छीन लिया है।"

"मगर आपको मुकेश के गीत क्यों पसन्द नहीं ?"

"एक बार मैंने मुकेश को 'सप्रू हाउस' (दिल्ली) में सुना। डेविड के इलेक्ट्रिकल गिटार के सामने मुकेश के गज़ल फीके पड़ गये। मनहूस लगे। तभी से मुझे मुकेश मनहूस लगता है।"

"आपके घर में सभी को मनहूस लगता है ?"

"नहीं, मेरे अलावे सभी उसके 'फैम' हैं, उसके गीतों पर दिल व ज़ान देते हैं।"

"आपको पता है ? मुकेशजी मेरे रिश्तेदार लगते हैं ?"

"ओः, सॉरी, मुझे पता नहीं था।"

"कोई बात नहीं, आप चाय लेंगे या कॉफी ?"

"कॉफ़ी।"

"काली या सफेद ?"

"गोरी।"

हम तीनों मुस्करा पड़े। वीणाजी बोलीं, "रीताजी कैसी हैं ?"

"क्या पता !"

"आजकल कुट्टी हो गयी है क्या ?"

"नहीं तो।"

"बेचारी को क्यों इतना तड़पा रहे हैं ?"

मैं गम्भीर हो गया फिर उदास।

दिनेश बोला, "वीणा, कोई और बात करो।"

"सॉरी, भाईसाहब।"

"डी, तुमने आज शाम को किस-किस को बुलाया है ?"

"यही बीसेक आदमी बुलाये हैं ।"

"अच्छा भाईसाहब, आप दिन को अच्छी तरह सो लीजियेगा । रात को जागना पड़ेगा । जाने दो बज जायँ । और हाँ, आपको गाना भी पड़ेगा ।"

"तो फिर मैं मुकेश की तरह गा दूँगा ।"

मैं मुस्कराया । सभी मुस्कराये । वीणाजी बोलीं, "तब तो सभी को बेहद पसन्द आयेगा ।"

"केवल एक मुझे पसन्द नहीं आयेगा ।"

"कौन-सा ग़ीत गाइयेगा ?" दिनेश ने पूछा ।

"वही, सब कुछ सीखा मैंने····।"

हम फिर हँसे । वीणाजी बोलीं, "आपको पता है, मुकेश को इस गीत पर फिल्म फेयर अवार्ड मिला है और समारोह में उसने ६० व्यक्तियों के आर्केस्ट्रा के साथ इसे गाया था ।"

"तब तो मैं बिना आर्केस्ट्रा के ही गाऊँगा ।"

"भाईसाहब, आपको पता है कि मुकेशजी अपनी बिरादरी के किसी आदमी को फिल्म लाइन में नहीं जाने देते ?"

आपने कोशिश की थी क्या ?" मैंने छेड़ा—नाच-गाने से शौक तो था और रूप भगवान ने दिया ही था ।" मैंने जोड़ा ।

"कभी-कभी सपने देखा करती थी ।"

"वाह, ये फिल्म में चली जातीं, तो मेरी बेबी की अम्मा कौन बनती ?"

दिनेश ने तार तोड़ दिया । हम सभी खिलखिलाकर हँस पड़े । वीणाजी कुछ मन से न हँसीं । क्या पता उनके अभिमान को चोट लगी हो ।

दिनेश बोला, "चलिये भाईसाहब आपको अपना चाय का बाग दिखा लाऊँ !"

हम दोनों उसकी नयी 'एम्बेसेडर' में बैठे और चाय के खेतों में निकले । जाते-जाते वीणा बोली, डी० मैं भी चलूँ ?"

"आ जाओ डार्लिंग ।"

वीणा भी आ गयी और हम दोनों के बीच बैठी। चाय के खेतों के बीच चौड़ी-चौड़ी सड़कें थीं, जिन पर हम मजे में कार से गुजर सकते थे। हरी-हरी पत्तियाँ दोनों ओर खेतों में भरी पड़ी थीं और कलियों ने यूँ सिर उठा रखा था जैसे आकाश को छूने की साध मन में भरी हो। छाया-वृक्षों की पंक्तियाँ धूप-छाया का जाल बुन रही थीं। इन हरी-भरी मुँह उठाये कलियों पर। खेतों में रंग-बिरंगे कपड़े पहने लड़कियाँ पत्तियाँ तोड़ रही थीं। चाय की पत्तियों की टोकरियाँ तो सड़क पर थीं। वे केवल अपने आँचलों में पत्तियाँ डालती जाती थीं।

वे दोनों हाथों से चट-चट पत्तियाँ तोड़तीं और बातें भी करती जातीं। किसी-किसी माँ के बच्चे सड़क पर धूप में खेल रहे थे।

यहाँ पुकार थी एक कली दो पत्ते की।

सरदार बोला, "हे, एक कली, दो पत्ते तोड़ो, बेसी नहीं।"

दो-चार छोकरियों ने दुहराया, 'एक कली दो पत्ते' और खी-खी करके हँस पड़ीं।

हमारी कार धीरे-धीरे आगे बढ़ रही थी। पीछे से सुनायी दिया। एक शैतान छोकरी बोल रही थी, "दो पत्ते एक कली, दो साहब एक मेम।"

'खी-खी-खी' की लहर खेतों में गूँज गयी। मैंने यूँ रुख फेर लिया जैसे कुछ सुनायी न दिया हो। पर वीणा क्यों चुप रहने लगी। बोली, "डी० तुम्हारी छोरियाँ बड़ी शैतान हैं।"

"अजी ये भूटानीज़ हैं, बड़ी हँसोड़ होती हैं। हँसे नहीं तो इतना सख्त काम कैसे हो?"

इतने में पीछे से सुनायी दिया। एक जोर से पूछ रही थी बूढ़े सरदार से, "क्यों सरदार, एक कली होगी तो दो पत्ते लड़ेंगे नहीं?"

हँसी की लहर फिर दौड़ गयी। बूढ़े का उत्तर सुनायी न दिया। कोई और बोली, "वाह, दोनों दो ओर होंगे बीच में कली होगी। लड़ेंगे कैसे?" किशोरी थी, अनजाने बोली।

अब ज़ोर की 'खी-खी-खी' 'गी-गी-गी' गूँजी।

"यही बीसेक आदमी बुलाये हैं।"

"अच्छा भाईसाहब, आप दिन को अच्छी तरह सो लीजियेगा। रात को जागना पड़ेगा। जाने दो बज जायँ। और हाँ, आपको गाना भी पड़ेगा।"

"तो फिर मैं मुकेश की तरह गा दूँगा।"

मैं मुस्कराया। सभी मुस्कराये। वीणाजी बोलीं, "तब तो सभी को बेहद पसन्द आयेगा।"

"केवल एक मुझे पसन्द नहीं आयेगा।"

"कौन-सा ग़ीत गाइयेगा ?" दिनेश ने पूछा।

"वही, सब कुछ सीखा मैंने····।"

हम फिर हँसे। वीणाजी बोलीं, "आपको पता है, मुकेश को इस गीत पर फिलम फेयर अवार्ड मिला है और समारोह में उसने ६० व्यक्तियों के आर्केस्ट्रा के साथ इसे गाया था।"

"तब तो मैं बिना आर्केस्ट्रा के ही गाऊँगा।"

"भाईसाहब, आपको पता है कि मुकेशजी अपनी बिरादरी के किसी आदमी को फिल्म लाइन में नहीं जाने देते ?"

आपने कोशिश की थी क्या ?" मैंने छेड़ा—नाच-गाने से शौक तो था और रूप भगवान ने दिया ही था।" मैंने जोड़ा।

"कभी-कभी सपने देखा करती थी।"

"वाह, ये फिल्म में चली जातीं, तो मेरी बेबी की अम्मा कौन बनती ?"

दिनेश ने तार तोड़ दिया। हम सभी खिलखिलाकर हँस पड़े। वीणाजी कुछ मन से न हँसीं। क्या पता उनके अभिमान को चोट लगी हो।

दिनेश बोला, "चलिये भाईसाहब आपको अपना चाय का बाग दिखा लाऊँ !"

हम दोनों उसकी नयी 'एम्बेसेडर' में बैठे और चाय के खेतों में निकले।

जाते-जाते वीणा बोली, डी० मैं भी चलूँ ?"

"आ जाओ डार्लिंग।"

वीणा भी आ गयी और हम दोनों के बीच बैठी। चाय के खेतों के बीच चौड़ी-चौड़ी सड़कें थीं, जिन पर हम मजे में कार से गुज़र सकते थे। हरी-हरी पत्तियाँ दोनों ओर खेतों में भरी पड़ी थीं और कलियों ने यूँ सिर उठा रखा था जैसे आकाश को छूने की साध मन में भरी हो। छाया-वृक्षों की पंक्तियाँ धूप-छाया का जाल बुन रही थीं। इन हरी-भरी मुँह उठाये कलियों पर। खेतों में रंग-बिरंगे कपड़े पहने लड़कियाँ पत्तियाँ तोड़ रही थीं। चाय की पत्तियों की टोकरियाँ तो सड़क पर थीं। वे केवल अपने आँचलों में पत्तियाँ डालती जाती थीं।

वे दोनों हाथों से चट-चट पत्तियाँ तोड़तीं और बातें भी करती जातीं। किसी-किसी माँ के बच्चे सड़क पर धूप में खेल रहे थे।

यहाँ पुकार थी एक कली दो पत्ते की।

सरदार बोला, "हे, एक कली, दो पत्ते तोड़ो, बेसी नहीं।"

दो-चार छोकरियों ने दुहराया, 'एक कली दो पत्ते' और खी-खी करके हँस पड़ीं।

हमारी कार धीरे-धीरे आगे बढ़ रही थी। पीछे से सुनायी दिया। एक शैतान छोकरी बोल रही थी, "दो पत्ते एक कली, दो साहब एक मेम।"

'खी-खी-खी' की लहर खेतों में गूंज गयी। मैंने यूँ रुख फेर लिया जैसे कुछ सुनायी न दिया हो। पर वीणा क्यों चुप रहने लगी। बोली, "डी० तुम्हारी छोरियाँ बड़ी शैतान हैं।"

"अजी ये भूटानीज़ हैं, बड़ी हँसोड़ होती हैं। हँसे नहीं तो इतना सख्त काम कैसे हो?"

इतने में पीछे से सुनायी दिया। एक जोर से पूछ रही थी बूढ़े सरदार से, "क्यों सरदार, एक कली होगी तो दो पत्ते लड़ेंगे नहीं?"

हँसी की लहर फिर दौड़ गयी। बूढ़े का उत्तर सुनायी न दिया। कोई और बोली, "वाह, दोनों दो ओर होंगे बीच में कली होगी। लड़ेंगे कैसे?" किशोरी थी, अनजाने बोली।

अब ज़ोर की 'खी-खी-खी' 'गी-गी-गी' गूँजी।

हम आगे बढ़े। एक सरदार को बुलाकर दिनेश ने कुछ आदेश दिया। इतने में एक चीख सुनायी दी, "दैय्या री।"

हम चौंककर बाहर निकल आये। दिनेश ने कड़ककर पूछा, "क्या है री ?"

"कुछ नहीं साहब, इसको जोंक धरे है।"

वह दर्द में चीख रही थी और बाकी सब हँस रही थीं, दिनेश भी मुस्कराया। मुझे अचरज हुआ। दिनेश ने पूछा, "नयी आयी है क्या ?"

जोंक पर नमक डालती हुई एक प्रौढ़ा बोली, "हाँ हजूर, बुधनी की बेटी है। माँ धान काटने गयी है इसको भेजकर बदली में।"

और मैं उस सोलह-सत्रह साल की किशोरी का दर्द से ऐंठना देख रहा था। जोंक बायीं कोख में चिपकी पड़ी थी। नन्हें-से दो टूक वस्त्र पहननेवाली यह किशोरी दर्द के मारे तन की ऐंठन एवं मरोड़ में इतनी सुन्दर लगती थी कि हालीउड के स्टार को भी मात करे। लाल छींट की कसी हुई आधे पेट व पीठ तक उतरती हुई चोली तथा काले अंचले की तनी हुई तहमद, बस कुछ न पूछिये, कैसी निराली छटा थी वह। मैंने मन-ही-मन कहा, भगवान इतना तो अच्छा करता है कि तन की खूबसूरती धनियों को बपौती में नहीं देता। उसमें, ग़रीबों का भी हक़ बराबर लगता है।

बीना ने भी समझा। जाने क्या गुनती थी। बोली, "डी०, यह रोज़ पत्ती चुनने आती है ?"

डी० मुस्कराया। बोला, "रोज आती तो जोंक क्यों पकड़ती ?"

"और पकड़ती भी तो इतना चिल्लाती क्यों ?" मैंने जोड़ा।

तीनों हँसे। आगे बढ़े।

अब हम बँसवारी से गुजर रहे थे। सुन्दर-सुन्दर लम्बे-लम्बे हरे-भरे, बाँस। दिनेश ने बताया; अगले वर्ष उसने वहीं पर एक चीता मारा था। बीणा का सिर अभिमान से ऊपर उठ गया।

आगे सन-बारी थी जहाँ ऊँची-ऊँची (सनग्रास) सन की घास लगी थी। अब हम नयी झाड़ियों के खेत में आ गये जो पाँच बरस पुरानी थीं। दिनेश ने

कहा, "इसे मैंने अपनी शादी के साल लगाया था, इन्हीं महीनों में। इसमें एक भी 'डेथ' नहीं। 'ग्रोथ' भी अच्छी है, क्यों भाईसाहब ?"

"हाँ, झाड़ियों का प्रसार भी अच्छा हो रहा है।"

वीणा ने वड़े चाव-भाव के साथ इस सेक्शन को देखा। उसकी शादी के साल का रोपा हुआ सेक्शन।

"ये तो सही-सही कलम और खाद की करामात है। गत वर्ष ये 'रेड-रस्ट' से भरे पड़े थे। मैंने फ़ंगीसाइड से वह जम के स्प्रे कराया कि सभी ख़त्म हो गये।"

"कितना साफ़ है यह सेक्शन !" वीणा बोली।

"जी, ये तो उन बूढ़ों की करामात है। वह देखो, उन पाँचों का काम है साल-भर इनको साफ़ रखना।"

मैंने उन पाँचों को देखा, जो हमारे आने की आहट पाकर खड़े हो हमें सलाम कर रहे थे। एक को तो शायद सूझता भी नहीं; क्योंकि वह हमारी उल्टी दिशा में सलामी मार रहा है।

वीणा मुस्करायी, दिनेश भी। मेरा मन दर्द से बोझिल हो गया। एक दिन सव की यह गत होनी है। आज के युग में यह महात्मा बुद्धपन कुछ अशोभन-सा लगा। मैंने देखा, वीणा व दिनेश की निगाहें मुझ पर गड़ी हैं। मैं झेंपा। झेंप मिटाने के लिए मैंने पूछा, "क्यों दिनेश, मैं इनकी एक स्नैप लेलूँ।"

"हाँ, हाँ क्यों नहीं ?"

फिर तो हम तीनों, बूढ़ों के पास गये। फोटो लिये जाने के नाम पर एक ने सिर पर अँगोछा वांधा, दूसरे ने मूंछें उमेठीं, तीसरा झुकी कमर को सीधी करके खड़ा हुआ। एक ने अपनी छाती विशेष रूप से तान ली। वोला, "हज़ूर, मैं सन् १४ की लड़ाई में लड़ चुका हूँ।"

अंधा उल्टा खड़ा हो रहा था, उसे दिनेश ने पकड़कर ठीक किया। तव तक वीणा वोली, "मैं भी इनके साथ खड़ी हो जाऊँ ?"

"हाँ, हाँ, द व्यूटी ऐण्ड द बीस्ट।" कहकर दिनेश मुस्कराया।

बेचारी वीणा कटकर रह गयी। मैंने बूढ़ों का स्नैप लिया। फिर मैं बोला, "क्यों न तुम दोनों का भी एक स्नैप यहाँ ले लूँ ?"

"हाँ, यह ठीक रहेगा"—वीणा चहकी, "मगर आप भी शामिल होते तो मजा आ जाता।"

"अच्छा एक अलग, एक साथ-साथ !"

फिर वीणा और दिनेश एक छाया-वृक्ष के तने के पास खड़े हुए, जो उनकी शादी के ही महीने में पाँच वर्ष पहले रोपा-गया था। मैंने दोनों की एक स्नैप ली। फिर कैमरे का आटोमेटिक सेट कर स्वयं भी साथ जा खड़ा हुआ और हम तीनों की स्नैप ले ली गयी।

अब हम लौट पड़े। रास्ते में एक सुन्दर नर्सरी देखी। दिनेश ने बड़े शौक से अपने नये 'क्लोन्स' की नर्सरी दिखायी, जिसे वह अपनी बेबी की तरह दिल व जान से से रहा था। वह कहता, "ये क्लोन्स बीजवाले पौधों से प्रति झाड़ी पचास प्रतिशत अधिक चाय देंगे। फ्लेवर भी उनसे बेहतर ही होगी। मुझे 'क्लोन्स' को तेजी से बढ़ाना है। बड़ा मुश्किल और धीमा काम है।"

पत्तियाँ चुनती हुई लड़कियों के सेक्शन के पास से गुजरते हुए मेरा जी ललचाया, इनका भी एक स्नैप ले लूँ। दिनेश से पूछा। बोला, "हाँ-हाँ।"

हम तीनों गाड़ी से उतर पड़े। दिनेश के कहने से कुछेक ने अपनी टोकरियाँ पीठ पर लाद लीं। सिर से पार होते हुए एक स्ट्रैप के सहारे। कैमरा देखते ही नयी छोकरियाँ सीना तानकर एकटक ताकने लगीं, प्रौढ़ाओं ने मुँह तिरछा कर लिया। एकाध ने सिर पर आँचल डाल लिया।

मेरी निगाहें खोज रही थीं उस जोंकवाली लड़की को। जाने कैसे नमक डालनेवाली औरत ने समझ लिया। उसने आवाज दी, "सोनिया, सोनिया।"

"आई री, री।" कहती हुई वह दौड़कर जाने किस झाड़ी के पीछे से आ गयी।

"एक धीरे से बोली, "जा-जा बुलावै हैं।"

सभी खी-खी कर हँस पड़ीं। वह बेचारी शरमा गयी।

सोनिया सवसे आगे व पास खड़ी हुई, वड़ी-वड़ी, भूली-भटकी-सी आँखें, गठीला तन, मोहक चढ़ाव-उतार, चुस्त चोली, तना हुआ चुस्त कमर का आँचल, जो घुटनों तक ही आता था, कान में रंगीन शीशे के टाप्स, नाक में नकली हीरे-सी कील, हाथ में पत्तियाँ।

मैंने एक 'पैनोरामिक व्यू' के साथ सारी मण्डली की फोटो ली। फिर वीणा वोली, "एक सोनिया की तो अलग से ले लो भाईसाहव।"

मैंने कहा, "नहीं !"

वह टुनकी, 'क्यों साहव, मेरी फोटू से तुम्हारा कैमरा खराव हो जायगा ?"

वड़ी वातूनी है। हम सभी हँस पड़े।

वीणा को जाने क्या सूझी, वह जाकर सोनिया को पकड़ लायी और उसके साथ पोज कर खड़ी हो गयी।

क्यों न हो, आज उसकी शादी की सालगिरह जो है। लाइट मूड में है। जो जी में आता है, करती है।

जब वीणा सोनिया की वगल में जा खड़ी हुई तो पत्ती चुनती छोकरियों में एक खिलखिलाहट की लहर गूँज गयी। दिनेश फिर बोला, "द ब्यूटी ऐण्ड द वीस्ट !"

"द ब्यूटीफुल वीस्ट ! वीणा ने सुधारा।

मैंने स्नैप ली व कहा, "थैंक यू।"

जव हम चलने को मुड़े, तो सोनिया मुँह फेरकर वोली, "साव, मेरी फोटू एक मुझको भी देना।"

फिर एक खिलखिलाहट गूँजी। इतने में मैं तड़पकर उछल गया। 'वाप रे' की आवाज निकली।

दिनेश लपका, । "क्या हुआ ?"

टाँगें उमेठते हुए मैंने कहा, "जोंक।"

"अरे इतना घवराते हो ?" कहते हुए दिनेश ने वड़े इतमीनान से जोंक को मेरी टाँग से पकड़कर दूर फेंक दिया। वहाँ रक्त की लाली दौड़ गयी। मैं उसे देखता रहा। तव ध्यान उधर गया जहाँ छोकरियाँ आपस में खी-खी-खी—गी-गी-गी चुपके-चुपके हंसे जा रही थीं।

मैं झेंपा और मुँह छिपाने को कार में भागा।

इस वार वीणा भी विना हँसे न रह सकी। वोली, "भाईसाहव, यह पहला अनुभव है क्या ?"

"जोंक का ? हाँ !"

"सोनिया ने तो नहीं भेजी थी ?"

"क्ता पता ?" दिनेश बोला !

हम तीनों मुस्कराए और बंगले पहुँच गये।

●●●

४

वंगले पर पहुँचवे ही दिनेश और वीणा तो शाम की पार्टी की व्यवस्था में लग गये और मैं लॉन में विलायती झाऊ की घूप-छाया के नीचे एक आरामकुर्सी डालकर पड़ रहा। वेयरा एक गिलास जिंजर बीयर एक तिपाई पर रख गया।

सामने कासमस के हजारों फूल खिले पड़े हैं, वंगले की सीढ़ियों पर गमलों में वड़े-वड़े पीले-पीले क्रिसमस खिले हुए हैं और दोनों फाटकों पर दो-दो वोमन-वीलिया की सैकड़ों डालियाँ सहस्रों लाल, श्वेत, वैंगनी, वासंती फूलों से लदी झूम रही हैं। चींटें-चीटियाँ, मधुमक्खियाँ और तितलियाँ—सभी कासमस पर टूटे पड़ते हैं, उन पर वहार जो छायी है। मघु देने मघु लेने की वातें है। ये फूल, ये रस, ये जवानी, ये उमंगें, ये रस देना-लेना, हँसना-हँसाना, छेड़ना-गुदगुदाना, मुस्कराना....यही तो वहार का क्रम है, संसार का क्रम है, यही न होता तो इस सूखी दुनिया में कोई जीता कैसे ? जीता क्यों ?

यही बहार चुपके-चुपके रीता पर आ रही थी, धीरे-धीरे छा रही थी जब मुझसे उसकी पहली मुलाकात हुई। दूसरे दिन रविवार था। मैं बड़ी उत्सुकता के साथ दुपहरी ढलने का इन्तजार करता रहा। जाड़े का नन्हा-सा दिन, काटे न कटता। घड़ी की सूइयों ने मानो सत्याग्रह कर दिया था, चींटी की चाल चलती थीं।

जैसे-तैसे करके दो बजे और मैं बढ़िया श्वेत स्पोर्टिंग शर्ट और शार्ट डालकर ब्लेजर साइकिल की हैंडिल पर रख हाथ में रैकट लिये चल पड़ा प्रोफेसर लाल के बंगले की ओर। रास्ते-भर सोचता जाता—देखें रीता कैसे मिलती है, क्या बातें करती है, कुछ अन्तर में अब भी है, कुछ चाव भी है या बस खेल-ही-खेल भर का नाता है ?

कब हजरतगंज पार हुआ, कब हेवेट रोड मैं पहुँचा, कुछ पता तक न चला और मैं प्रोफेसर लाल के बंगले के फाटक के भीतर घुस रहा था। फाटक पर 'हनी सकल' के क्रीपर लगे थे, जिनमें अब फूल झरना शुरू हो गया था। उनकी गहरी मीठी सुवास का झोंका लगते ही मुझे ऐसा आभास हुआ कि मदहोश हो जाऊँगा।

पर यह क्या ?

रीता तो अभी से श्वेत स्लीवलेस ब्लाउज और श्वेत शार्ट में तैयार बैठी है, एक रंगीन छतरी के नीचे हल्की-सी केन चेयर पर। बैडमिण्टन नेट भी अभी से लगा है। आज बालों को पीछे कसकर कोनिकल स्टाइल से बाँधा गया है। उसके पास एक खाली कुर्सी और एक नन्हीं-सी टेब्रिल पड़ी है। वह किसी पुस्तक में मशगूल है।

यह सब कुछ मैं एक ही नजर में देख गया और गुनने लगा —आखिर वह इतनी जल्दी तैयार क्यों हुई ? क्या मेरी प्रतीक्षा में ? उहूँ !

क्या खेल से इतना चाव है ? क्या प्रोफेसर साहब भी तैयार हैं ?

पर कहाँ हैं प्रोफेसर लाल ? कहाँ हैं मीता ?

और रीता पढ़ती क्या है ?

शेली, कीट्स वाल्जाक सानर्सेट माम, डी एवं लारेंस ? 'लेडी चैटर्लीज लवर' या 'गुनाहों के देवता' ?

मन में एक गुदगुदी लिये मैं धीरे-धीरे साइकिल पर ही सवार उसके पास जा अड़ा। वह पुस्तक पर सिर झुकाए ही बोली, "ऐ, मि० प्रकाश, लॉन पर साइकिल चलाना मना है। क्या समझे ?"

"समझ गया मेम साहब।" कहते-कहते मैंने साइकिल एक किनारे खड़ी कर दी और उसके पीछे खड़े होकर देखने लगा, पढ़ती क्या है ?

अरे, यह तो अपने 'प्रोज़ सेलेक्शन' की किताब में गोल्डस्मिथ का लेख 'द मैन इन ब्लैक' पढ़ रही है। छिः-छिः यह भी कोई पढ़ने की चीज हुई भला !

और मैं उसकी कुर्सी की पीठ पर हाथ रखे झुककर देख रहा हूँ उसकी लम्बी–गोरी–सुनहरी–चिकनी हंसिनी-जैसी ग्रीवा, सुडौल पतली चिकनी, चढ़ाव-उतार में चुस्त पिण्डलियाँ, पिण्डलियों के ऊपर घुटने, घुटनों के ऊपर होश गुम करनेवाली रानें।

मैं मौन हूँ। इस सौंदर्य के रस को छक के पी रहा हूँ, शैम्पू किये गये केश में से कोई भीनी-भीनी-सी सुगंध आ रही है लम्बी-लम्बी सोपारी के तने-जैसी खुली, गोरी, गोल वाहों की सुषमा आँखों के कटोरे में भर-भरकर पी रहा हूँ और वह ऐसी मशगूल है पढ़ने में, जैसे कोई पास में हो ही नहीं।

पीठ पर इस पार से उस पार तक एक इंच चौड़ी शिकन ब्लाउज के नीचे देखकर मैं मुस्कराया। भला इतने जोर से ब्रा कसने की क्या जरूरत थी ? मन को शरारत सूझी। पीछे से दोनों बाँहें फैलाकर वे बड़ी-बड़ी आँखें मूंद लूं तो !

मूंद लूं उनको जो गोल्डस्मिथ के लिए मेरी उपेक्षा कर रही हैं !

क्या मेरे मन की बात रीता ताड़ गयी ? वह धीरे से बोली "ऐ मिस्टर, सामने आओ ना, इतनी जल्दी कैसे टपक पड़े ?"

प्रोफेसर साहब से मिलने। मगर जनाव इतनी ज़ल्दी कैसे तैयार हो गयीं ? किसके लिए ?"

"बैडमिण्टन के लिए।"

अब मैं सामने जाकर धूप में खड़ा हो गया। रीता ने पुस्तक टेबिल पर रख दी। कहा, "क्या घूर-घूरकर देख रहे हैं ?"

"एक नयी शमाँ को।"

"आइज़ डाउन।"

मैंने निगाहें नीची तो न की, हाँ फेर लीं दूसरी ओर। तब वह बोली, "इतनी बेरुखी ! अच्छा आइये, इस कुर्सी पर बैठिए।"

मैं दूसरी कुर्सी पर बैठ गया, तो उसने पूछा, "चाय-वाय ?"

"जी नहीं, शुक्रिया।"

"फिर एक गेम हो जाय ?"

"सिंगल्स ?"

"हॉर्ड।" सुरीले स्वर में बोली।

"जैसी मर्जी।"

जब वह खड़ी हुई, तो स्वभावतः उसने सीने को तानकर ब्लाउज नीचे की और शार्ट को ऊपर खींचा। मेरी दृष्टि का अनुकरण कर बोली, "आँखें फाड़-फाड़कर देखना ग़ँवारों का लक्षण है।"

मैं तो गाँव का गँवार हूँ ही मेम साहब, मगर किसी की वेश-भूषा और साज-सज्जा की प्रशंसा न करना क्या कम गँवारपन है ?"

"तो जनाव मेरे वेश की प्रशंसा कर रहे हैं।" उसकी आँखों में कौतूहल व मुस्कान छलक रही थी।

"जी नहीं, अभी तो 'असेस' कर रहा हूँ, तारीफ तो तब करूँगा जब तारीफ लायक चीज होगी।"

"क्या मतलब ? आपकी समझ में मेरा रूप·····" उसकी भृकुटी तनी।

मैंने जोड़ा, "प्रसंसा योग्य नहीं है। चलिए, खेल शुरू करें।" कहते-कहते मैंने अपना हाथ उसकी पीठ पर रखकर आगे धकेला। वह मेरा हाथ छुड़ाती हुई आगे बढ़ी और हम दोनों खेलने लगे।

धूप अभी तेज थी। हम पसीने से तर हो चले। पर, खेल में मजा आ रहा था। रीता अच्छा खेलती है। मुश्किल-से-मुश्किल शाट लौटा देती है। आज हम

मजे-मजे में खेल रहे थे खेलने के लिए, प्वाइंट स्कोर करने लिए नहीं, एक दूसरे को छकाने के लिए नहीं, दौड़ाने और थकाने के लिए नहीं।

पहला गेम मैं हार गया। समाप्त होते ही हम दोनों लाल-पीली छतरी के नीचे पहुँचे और दोनों कुर्सियों पर धम्म से गिरे। बेयरा टेविल पर लेमन, आरेंज, जिंजर, पानी, सोड़ा तथा दो गिलास रख गया था।

रीता अपनी नन्हीं-सी रूमाल से पसीना पोंछ रही थी, मैंने अपनी वड़ी जेण्ट्स रूमाल पेश की। वह वोली, "नो, थैंक यू! क्या लीजिएगा?"

"जिंजर।"

"सोडा?"

"नहीं, पानी।"

उसने दो गिलास कोल्ड ड्रिंक तैयार की और एक मुझे बढ़ा दी। अपने हाथ का गिलास ऊँ चा कर बोली, "टू योर हेल्थ!

मैंने भी गिलास ऊँचा कर कहा, "टू योर व्यूटी।"

हम मुस्कराए। पीने लगे। मैंने दो घूँट लेकर पूछा, "आखिर प्रो० साहव कहाँ हैं?"

"वे अपने एक दोस्त से मिलने गये हैं।

"और मीता?"

"वह भी उनके साथ गयी हैं।

"फिर आप भी क्यों नहीं गयीं?"

"वाह, फिर आपका इन्तजार कौन करता?" फिर कुछ घवराकर असमंजस के साथ वोली।

"मेरा मतलव हैं कि वेडमिण्टन कौन खेलता?' मैंने जोड़ा। हम मुस्कराए। वह वोली, "डैडी वोल गये हैं चार वजे तक आ जायँगें, तब हम फोरसम खेलेंगे।"

"और आपने वह सलवार-कमीज....?"

"ओह गरमी कितनी है? मैं गेम्स के लिए कम-से-कम कपड़े पहनना ही पसन्द करती हूँ"

"फिर कल ?"

"आपका पहला दिन था न ? कब तक फार्मेलिटी निभाती ?"

हम मुस्कराए । मैंने कहा, "ये स्पोर्ट्स ड्रेस आपको बहुत फबती है ।"

"शुक्रिया जरनिवाजी के लिए ।" हमारी ड्रिंक्स खतम हुई । रीता बोली, "डैडी तो आये नहीं । एक गेम और हो जाय सिंगल्स ?"

"एक क्यों जी ? आप दस लीजिए ना ? अब तो आसार सिंगल्स के ही नजर आ रहे हैं ।"

वह हँस पड़ी । मैं भी हँसा । हँसते समय उसकी सुन्दर धवल दंतपक्तियाँ चमक उठीं । उसकी हँसी कितनी क्वाँरी थी ? कितनी कोरी, मासूम !

कुर्सी से उठकर खड़े होते ही उसने फिर सीना तानकर शार्ट ऊपर खींची । हमारी निगाहें मिलीं । हम आँखों-आखों में ही मुस्कराए, कुछ बोले नहीं । शायद उसकी ये आदत-सी बन गयी थी । आदत ?

कैसी नशीली थी यह आदत ! कितनी जानलेवा !!

इस गेम में निश्चित रूप से मुझे शरारत सूझी । मैंने चिड़िये को आड़े-तिरछे मारना शुरू किया । रीता फ़ील्ड के इस कोने से उस कोने, आगे से पीछे फिरकी की तरह नाचने लगी । उसके पाँव में स्प्रिग लग गयी । यूँ भी थोड़ा-बहुत उछल-कूद करने की उसकी आदत थी, कुल मिलाकर ऐसा हुआ कि रीता को दम मारने की फुर्सत न मिली और मैं इस स्वर्ग की परी की उछल-कूद का आनन्द आँखों-आँखों में पीता रहा ।

रीता मारे पसीने के भींग चली, जाड़ों में । चेहरे पर पसीने की बूंदें हीरे की तरह चमक उठीं सूरज की किरणों में । साँसें जोर-जोर से चलती और उनके साथ-साथ उन्नत उरोजों का चढ़ाव और भी तेज हो जाता । आह, वह स्थिति कितनी मोहक, कितनी मादक थी !

यह गेम मैं जीत रहा था । उसकी खीझ बढ़ रही थी । एक बार उसने चिड़िये को इतने ज़ोर से मारा की वह पार न कर जाल में जा फँसी । उसे निकालने को हम दोनों दौड़े । उसके हाथ में चिड़िया आयी और मेरे हाथ में उसका हाथ आया जल्दी में ।

हम ठिठके। मुस्कराए। वह बोली, "यह क्या ? छोड़िए ना ? कोई देख लेगा तो ?"

"नाराज हो ?" कलाई पकड़े हुए ही मैंने पूछा।

"नहीं।" उसने धीमे स्वर में कहा। मैंने कलाई छोड़ दी। तब आँखों में दुनिया-भर की उलहना भरकर बोली, "आप कितना छकाते हैं ?"

हम दोनों मुस्करा दिये। खेल आगे बढ़ा। अब मैंने उसे दौड़ाना और छकाना बन्द कर दिया। तब वह शरारत पर आगयी और मेरे सिर, गला और छाती पर शटल मारने की कोशिश करने लगी। पहले तो मैं बचाता, पर बाद को ढीला पड़ने लगा। जब कभी शटल मेरे गले पर, कान या छाती पर हिट करती, तो वह खूब हँसती, खूब ही हँसती।

और इस हँसी का आनन्द लेने के लिए ऐसे हिट लौटाने मैंने बन्द कर दिये।

केवल बन्द ही नहीं कर दिये, बल्कि उसी प्रकार के हिट मैंने देना आरम्भ कर दिया। पर रीता में परिवर्तन देखिए न !

कल ऐसी हिट पर गुस्से से देखती थी, फिर झेंपती थी। आज पहले झेंपने लगी, फिर मुस्कराने लगी।

और अब ?

अब आघात पहुँचे स्थान को अपनी पतली, लम्बी, नुकीली, नाजुक उँगलियों से सहलाती है और बड़ी-बड़ी आँखों में बड़े-बड़े उलहने भर टक-टक ताकने लगती है।

अरे, रीता को क्या हो गया ? अब तो शटल की चोट खाकर ही ही-ही; खी-खी-खी कर हँसने लगी है। यह कैसा परिवर्तन ? क्यों ?

क्या ये नन्हीं-नन्हीं मासूम चोटें उसे भाती हैं ? क्या मालूम होता है ? कैसा आभास होता है ? गुदगुदी आती है। पूछूँ ?

छिः छिः ! वह साइड बदलती हुई बोली, "क्या अब यही खेल होगा प्रकाशबाबू ?"

"मैं क्या जानूं ? आपकी मरज़ी !"

"आप ये शरारतें अब नहीं करेंगे ?"

"शुरू किसने की ?"

वह झेंप गयी। जाते-जाते बोली, "अब सीरियसली खेलिए।"

"आपकी मरजी ! जो भी खेलिएगा, सीरियसली खेलूँगा।"

हम जाते-जाते मुस्कराए। खेल फिर चल पड़ा। थोड़ी देर सीरियसली हुआ, फ़िर रीता शरारतों पर आ गयी। मैंने संकेत समझ लिया। उसे शरारतें अच्छी लगती हैं। फिर तो मैंने शटल की हल्की-फुल्की मासूम चोटों की मार से उसे विह्वल कर दिया। वह हार गयी।

हाँफती-हाँफती बोली, "मैं तो मर गयी।"

"मर गयी ? क्या मतलब ?"

"मैं तो मर गयी बालम।" मेरे मन ने दुहराया।

थके हुए को सहारा देने के लिए मैंने जो बाँया हाथ चलते-चलते उसके बाँयें कंधे पर रखा, तो लगा, वह बाँहों पर सारे तन का भार देकर झूल जायगी, गिर जायगी। इस सुखद भार को सँभालते हुए ले जाकर मैंने कुरसी में बिठाला। इस बार उसने मेरा हाथ झटक नहीं दिया।

बैठती हुई बोली, "मैं एकदम थम गयी।"

"तन से या मन से ?" पूछा मैंने।

"दोनों से।" कहकर वह मुस्करायी।

पसीना पोंछने के लिए उसने फिर अपनी नन्हीं-सी रूमाल निकाली। मैंने अपनी बड़ी रूमाल पेश की। उसने बिना हिचक ले लिया और मुंह पोंछने लगी। पोंछकर जब मेरी ओर रूमाल बढ़ाने लगी, तो हमारी आँखें मिलीं और हम मुस्करा दिये।

मेरे मन ने कहा, "चलो, चिड़िया पोस मानने लगी।"

उसने पूछा, "चाय ?"

"मरजी जनाब की।"

"ओ०....के०।"

हम ठिठके। मुस्कराए। वह बोली, "यह क्या ? छोड़िए ना ? कोई देख लेगा तो ?"

"नाराज हो ?" कलाई पकड़े हुए ही मैंने पूछा।

"नहीं।" उसने धीमे स्वर में कहा। मैंने कलाई छोड़ दी। तब आँखों में दुनिया-भर की उलहना भरकर बोली, "आप कितना छकाते हैं ?"

हम दोनों मुस्करा दिये। खेल आगे बढ़ा। अब मैंने उसे दौड़ाना और छकाना बन्द कर दिया। तब वह शरारत पर आगयी और मेरे सिर, गला और छाती पर शटल मारने की कोशिश करने लगी। पहले तो मैं बचाता, पर बाद को ढीला पड़ने लगा। जब कभी शटल मेरे गले पर, कान या छाती पर हिट करती, तो वह खूब हँसती, खूब ही हँसती।

और इस हँसी का आनन्द लेने के लिए ऐसे हिट लौटाने मैंने बन्द कर दिये।

केवल बन्द ही नहीं कर दिये, बल्कि उसी प्रकार के हिट मैंने देना आरम्भ कर दिया। पर रीता में परिवर्तन देखिए न !

कल ऐसी हिट पर गुस्से से देखती थी, फिर झेंपती थी। आज पहले झेंपने लगी, फिर मुस्कराने लगी।

और अब ?

अब आघात पहुँचे स्थान को अपनी पतली, लम्बी, नुकीली, नाजुक उँगलियों से सहलाती है और बड़ी-बड़ी आँखों में बड़े-बड़े उलहने भर टक-टक ताकने लगती है।

अरे, रीता को क्या हो गया ? अब तो शटल की चोट खाकर ही ही-ही; खी-खी-खी कर हँसने लगी है। यह कैसा परिवर्तन ? क्यों ?

क्या ये नन्हीं-नन्हीं मासूम चोटें उसे भाती हैं ? क्या मालूम होता है ? कैसा आभास होता है ? गुदगुदी आती है। पूछूँ ?

छिः छिः ! वह साइड बदलती हुई बोली, "क्या अब यही खेल होगा प्रकाशबाबू ?"

"मैं क्या जानूं ? आपकी मरजी !"

"आप ये शरारतें अब नहीं करेंगे ?"

"शुरू किसने की ?"

वह झेंप गयी। जाते-जाते बोली, "अब सीरियसली खेलिए।"

"आपकी मरजी ! जो भी खेलिएगा, सीरियसली खेलूँगा।"

हम जाते-जाते मुस्कराए। खेल फिर चल पड़ा। थोड़ी देर सीरियसली हुआ, फ़िर रीता शरारतों पर आ गयी। मैंने संकेत समझ लिया। उसे शरारतें अच्छी लगती हैं। फिर तो मैंने शटल की हल्की-फुल्की मासूम चोटों की मार से उसे विह्वल कर दिया। वह हार गयी।

हाँफती-हाँफती बोली, "मैं तो मर गयी।"

"मर गयी ? क्या मतलब ?"

"मैं तो मर गयी बालम।" मेरे मन ने दुहराया।

थके हुए को सहारा देने के लिए मैंने जो बाँया हाथ चलते-चलते उसके बाँयें कंधे पर रखा, तो लगा, वह बाँहों पर सारे तन का भार देकर झूल जायगी, गिर जायगी। इस सुखद भार को सँभालते हुए ले जाकर मैंने कुरसी में बिछाला। इस बार उसने मेरा हाथ झटक नहीं दिया।

बैठती हुई बोली, "मैं एकदम थम गयी।"

"तन से या मन से ?" पूछा मैंने।

"दोनों से।" कहकर वह मुस्करायी।

पसीना पोंछने के लिए उसने फिर अपनी नन्हीं-सी रूमाल निकाली। मैंने अपनी बड़ी रूमाल पेश की। उसने बिना हिचक ले लिया और मुंह पोंछने लगी। पोंछकर जब मेरी ओर रूमाल बढ़ाने लगी, तो हमारी आँखें मिलीं और हम मुस्करा दिये।

मेरे मन ने कहा, "चलो, चिड़िया पोस मानने लगी।"

उसने पूछा, "चाय ?"

"मरजी जनाब की।"

"ओ०....के०।"

बेयरे को बुलाकर उसने चाय बिस्कुट लाने को कहा। बेयरा शायद इसके लिए, पहले से तैयार था। वह दो मिनट में चाय की ट्रे भरकर रख गया। रीता ने चाय बनायी। एक प्याला मेरी ओर बढ़ाया, और दूसरा स्वयं ले, सिप करती हुई बोली, "अब मैं आपके साथ सिंगल्स कभी नहीं खेलूंगी।"

मैं ताज्जुब में आ गया। उसका चेहरा देखने लगा, कितनी सीरियस है। अधरों के कोनों पर हल्की-सी शरारत नजर आ गयी। मेरी जान-में-जान आयी। पूछा, "क्यों? भला ऐसी नाराजगी क्यों?"

यूँ ही!" कहकर निगाहें मुझ पर गड़ाकर मुस्करायी। मैंने कुछ नहीं समझा।

इतने में डैडी की कार आ गयी। मीता, उछलकर भागती हुई पास आयी। बोली, "क्यों जीजी, आज तो सिंगल्स खूब जमा होगा।"

"चल हट, चाय पिएगी?"

"चाय तुम प्रकाशबाबू को पिलाओ, मैं तो चली।"

कहकर जाने को हुई कि रीता ने पकड़ी उसकी चोटी। चिल्लायी, "एंऽ, मेरी चोटी खराब कर दी न?"

मेरी ओर मुखातिब होकर बोली, "प्रकाशबाबू, आज तो पार्टनर के साथ........।"

रीता ने उसका कान पकड़ा। बोली, "अच्छा कुछ न बोलूँगी।"

जाते-जाते बोली, "डैडी अभी खेलने आ रहे हैं कपड़े बदलकर.......।

"और तुम?" मैंने पूछा।

"मुझे पार्टनर........।

"आज तुझे ही पार्टनर बनाऊँगा।"

मुड़कर बोली, "और जीजी?"

रीता की ओर देखकर बोली, "जीजी का दिल टूट जायगा।"

रीता जो पकड़ने को लपकी, तो वह भागी। जाती-जाती गुनगुनाती गयी।

'मारूँगी रस्सियों की मार,
वो तो हँसके बोले।'

हमारा एक फोरसम भी हुआ। मैंने देखा, रीता का मन न लगा।

अँधेरा होते-होते खेल समाप्त हुआ। द्वादशी का चाँद मुस्कराता हुआ आकाश के विशाल सिंहासन पर जा बैठा व अमृत की वर्षा आरम्भ हो गयी। मैं जब साइकिल उठाकर चला तो मीता ने पूछा, "प्रकाशबाबू, कल कितने बजे तशरीफ लाइयेगा ?"

"जब कहो।"

"दो बजे।"

बेचारी रीता झेंप गयी। मैंने साइकिल की पैडल पर पाँव रखा और आगे बढ़ा। जाते-जाते सुना, मीता धीरे-धीरे कह रही थी—

'फिर आउब एहि बिरियाँ काली।'

● ● ●

५

जाड़े की उस चांदनी रात में मैं सीधे हॉस्टल न जा सका। जाने कैसा नशा मुझ पर सवार था। लगता, बाँहों में अभी भी रीता का सुखद भार भरा पड़ा है। कभी उसकी बड़ी-बड़ी आँखों का एकटक ताकना याद आता, कभी उन रसीले अधरों का मुस्कराना। जिस रूमाल का उपयोग उसने किया था, उसे निकालकर मैंने चूम लिया। उस स्पोर्ट्स शार्ट एवं ब्लाउज में उसके उन्नत उरोजों का काँपना आँखों में कौंध जाता। शटल की नन्हीं-नन्हीं मार से उसका विह्वल होना याद आता।

इन सारे आनन्दों को याद कर मैं पागल हो रहा था। होश खो रहा था और मेरी साइकिल गोमती के किनारे-किनारे स्ट्रैण्ड रोड पर बढ़ी जा रही थी। होश तब आया, जब सामने आसफउद्दौल के इमामबाड़े का विशाल फाटक आया। मैंने साइकिल मोड़ी और पत्थर के पुल पर जा अड़ा। साइकिल खड़ी की और एक किनारे पत्थर की बेंच पर बैठ गया अपने मन की उलझन सुलझाने।

आकाश में चाँद मुस्कराता। गोमती के जल में चाँदनी घुलती, हवा में हल्के कुहासे की सफेद पाउडर तैरती और इनके बीच में अपने खोये होश को वापिस लाने की तरकीबें ढूँढ़ रहा था।

मैंने कभी उस प्रकार की मुहब्बत न की थी, जो उपन्यासों में लिखी जाती अथवा फिल्म में दिखायी जाती है। किसी और ने मुझसे ऐसी मुहब्बत की भी नहीं थी, इसलिए मुझे यह पहचानना मुश्किल था, यह क्या है? रीता का यह चाव, यह लगाव, यह झुकाव क्या है?

मुहब्बत? नहीं।

मैं मनोविज्ञान का विद्यार्थी नहीं, फिर भी इस विषय में मेरा चाव काफी अरसे से था। मैंने फ़ायड और जुंग की 'सेक्स' थियरीज पढ़ी थी, जिन्हें बच्चे के माँ के स्तन से दुग्धपान करने में भी सेक्स दिखायी देता था। मेरा मन वह सब स्वीकार करने को तैयार न था। यों मैंने मैकडुगल का 'टू द गर्ल्स' और 'टू द ब्वायज' दोनों पढ़े थे। एडोलेसेण्ट के सैकड़ों आचार-व्यवहार और लक्षण मुझे मालूम थे; कुछ पढ़ने से और कुछ देखने-सुनने से।

रीता इस वयःसंधि के मध्य में है, तभी उसका व्यवहार शायद अनोखा हो रहा था। एक ही बात से, एक ही घटना से कभी मौन रहती, कभी झेंपती, कभी आँखों-आँखों में उलहने देती, कभी गुस्सा होती और कभी 'ही-ही-ही' कर हँस देती, यह एडोलेसेण्ट का पागलपन नहीं तो क्या है? रीता का मन-मस्तिष्क असंतुलित है। उसको लेकर मुझे भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए, खेलना भी नहीं चाहिए। अनुचित लाभ नहीं उठाना चाहिए। प्रो० लाल को मुझ पर विश्वास कितना हैं। विश्वास न होता तो यूँ रीता को अकेली-दुकेली छोड़कर इधर-उधर चले न जाते।

नहीं-नहीं-नहीं, यह तो मेरा एक ट्रस्ट है। रीता एक ट्रस्ट है, मैं ट्रस्टी हूँ। और ट्रस्टी के नाते मैं उसकी देख-भाल करूँगा, सँवारूँगा, पर उसमें से लूँगा एक रत्ती भी नहीं, कुछ भी नहीं, कुछ भी नहीं।

आखिर मैं एक नतीजे पर पहुँच गया, रीता एडोलेसेण्ट के मध्य में भँवर में चक्कर खाती डोंगी की तरह है। उसके व्यवहार का वैसा होना स्वाभाविक है, जैसा उसने मेरे साथ किया। वैसा वह शायद किसी भी युवक के साथ करती, जिसे प्रो० लाल बुलाते। इसलिए मुझे मुहब्बत के भ्रम में पड़कर अपने को दिग्भ्रमित नहीं करना चाहिए, बल्कि अपने ट्रस्ट के भले की बात सोचनी चाहिए।

एक नतीजे पर पहुँचते ही मैंने साइकिल उठायी और चल पड़ा। फिर वही मुस्कराता चाँद, बरसती चाँदनी, भिण्ड रोड पर साइकिल की 'सर-सर'। मैंने ह्विसलिंग शुरू की। एक साइक्लिस्ट मेरी बगल से गुज़रा और पीछे से आगे निकल गया। मन ने सोचा—कहीं वह रीता होती तो कितना मजा आता, हम दोनों एक-एक हाथ कंधों पर रखकर बराबर साइकिल चलाते, फिर एक दूसरे की कमर में बाँहें डालते, फिर साइकिलें भिड़ जातीं, रीता की साइकिल मेरी साइकिल पर गिर जाती। हम दोनों सड़क पर ढेर हो जाते। मैं उसे सँभालकर उठाता, बाँहों में भर लेता।

वह सुखद भार ! छिः छिः !

मन में फिर से पिपरमिण्ट घुलने लगी। सारे फैसले गचपच हो गये। मीता की छेड़खानियों का क्या अर्थ ? मैं अब आपके साथ सिंगल्स नहीं खेलूँगी; क्यों ? बुद्धूप्रसाद कुछ तो पहचानो !

धीरे-धीरे तन-मन में मिठास भर आयी। नशा फिर से छाने लगा। मेरे युवक-मन को यह सोचना ही अधिक भाता, कि यह मुहब्बत है, ज़रूर मुहब्बत है। फिर भी····

सँभल-सँभलकर ले चल प्रीतम,
ज्वार उठा है यौवन का।

मैं मंकी-ब्रिज की चढ़ाई पर धीरे-धीरे साइकिल चढ़ा रहा और पैंडलिंग करते हुए पसीने से तर हो रहा था कि कोई छात्र ढाल पर सर्राटे के साथ साइकिल लिये हजरतगंज की ओर भागा। वह गाता जाता था।

वो पास रहे, या दूर रहे,
नजरों में समाये रहते हैं।
इतना तो वता दे कोई हमें,
क्या प्यार इसी को कहते हैं॥

मैं मन-ही-मन मुस्कराया। मेरी भी तो समस्या यही थी, क्या प्यार इसी को कहते हैं ?

'वेट एण्ड सी !'

जब तक मैं अपने कमरे में पहुँचा, उतनी ही उलझन में था जितना प्रो० लाल के बंगले से चलते समय।

× × ×

दिन बीतते गये। प्रो० लाल के घर मेरा आना-जाना बढ़ता गया। मुझे बैडमिण्टन से उतना शौक न था, जितना टेनिस से। इसलिए प्रोफेसर साहब से कहकर हम दोनों एक 'टेनिस क्लब' के मेम्बर हो गये। कभी-कभी यूनिवर्सिटी में भी साथ-साथ टेनिस खेलने जाते।

प्रो० लाल की कार रीता को हमेशा तो नहीं मिल पाती, इसलिए बहुधा हम दोनों दो साइकिलों पर साथ-साथ जाते। छात्रों में हम लोगों को लेकर कानाफूसी भी होती, जिसकी हम परवा न करते। बराबर साथ-साथ रहने से कंधे पर हाथ रखकर साइकिल चलाने की इच्छा जाती रही और गिर पड़ने की तो कल्पना भी हास्यास्पद लगी।

अब मेरी निगाहें भी रीता को स्पोर्ट्स ड्रेस में देखने की आदी हो गयीं और उसकी नवीनता एवं उत्सुकता जाती रही। अब हम सचमुच दो दोस्त की तरह हो गये पर गाढ़े नहीं।

एक दिन प्रो० लाल ने कहा, "प्रकाश, रीता का 'एक्जैम' पास आ रहा है। क्या उसको कुछ समय दे सकोगे ?"

डा. झिल्ली रमण रेड्डी
कल्याणी रेड्डी स्मारक
पुस्तकालय
9431

मैंने मन-ही-मन कहा—वाह, अन्धा क्या माँगे, दो आँखें। फिर प्रत्यक्षतः कहा, "एस सर !

"कब आ सकोगे ?"

"शाम को ठीक रहेगा ?"

"ठीक। रीता से बातें कर लेना।"

डा. झिल्ली रमण रेड्डी
कल्याणी रेड्डी स्मारक
पुस्तकालय

बात समाप्त हुई। मैं शाम को सूट-बूट पहन टाई बाँध बड़े रोब के साथ प्रो० लाल के बंगले पर पहुँचा। पहले मीता मिली, हाथ पकड़कर ड्राइंग-रूम में ले जाती हुई बोली, "आइये बैठिये प्रकाशबाबू, डैडी को बुला दूँ ?"

"डैडी ? घर में हैं क्या ? नहीं, नहीं…।"

"समझी। सब समझ गयी। घबड़ाइये नहीं। जीजी को बुला दूँ, एकदम चुपके से….।"

मैंने उसे एक हल्की-सी चपत जमाते हुए कहा, "नहीं मेरी गुड़िया, चुपके से नहीं, जोर से बुला दो।"

"अच्छा ! बड़े शेर होकर आये हैं, क्या बात है ?" कहती-कहती वह खसकी व चिल्लाती गयी, "जी-जी, ऐ जी-जी, सुनती हो, ये प्रकाशबाबू।"

मैंने सोच रखा था—रीता से नाराज होऊँगा। उसने स्वयं पढ़ाने के लिए क्यों नहीं कहा, डैडी से क्यों कहलवाया ? क्या मैं इतना पराया हूँ ? इसी उधेड़-बुन में था कि रीता दरवाजे का परदा हटाकर सामने आ खड़ी हुई।

कमरे में फ्लोरेसेण्ट ट्यूब ने यूँही आकाश की चाँदनी चुराकर कमरे में बिखेर दी थी, ऊपर से रीता की धवल सिल्क की साड़ी, धवल कंचुकी, खुले केश, कानों में हीरे के टॉप्स, कलाई पर घड़ी और दूसरी में सोने की चूड़ियाँ, पाँवों में ऊँची एड़ी की सफेद सैण्डल—सब कुछ मिल-मिलाकर ऐसा लगा, मानो स्वर्ग से एकाएक कोई अप्सरा धरती पर उतर आयी।

यह मेरी रीता ? नहीं। नहीं। नहीं।

यकीन नहीं होता। अवाक्-सी बोली, "कहिये ?"

डा. झिल्ली रमण रेड्डी
कल्याणी रेड्डी स्मारक
पुस्तकालय

ओह, कितनी मिठास है इस स्वर में, पर कितनी दूरी ? मैं किसी और के घर तो नहीं पहुँच गया ? पर नहीं, मीता जो अभी मिली थी।

मैं अजीब पशोपेश में पड़ गया। ग़लत समय, गलत स्थान, ग़लत व्यक्ति—सब कुछ ग़लत लगा। अपनी ग़लती पर पछताया। रूठने-रुठाने मानने-मनाने की बात तो चूल्हे-भाड़ में गयी, इस 'ऐक्शन' के सामने मेरी बोलती बन्द हो गयी। मैं अकचकाकर बगलें झाँकने लगा, इतने में और भी चकित करनेवाले स्वर में उसने दुहराया, "कहिये ?"

"प्रोफेसर साहब··· ।" मेरे मुँह से निकला।

बड़ी मुश्किल से बोल फूटे और रीता पल-भर में अन्तर्धान हो गयी परदे के पीछे। मेरी जान-में-जान आयी। सैण्डिल की खट-खट की आवाज धीरे-धीरे धीमी पड़ती गयी और फिर समाप्त हो गयी।

मैंने अपना पसीना पोंछा और रूमाल जेब के हवाले की। दो मिनट के भीतर ही प्रोफेसर साहब गाउन डाले आये, साथ में रीता को भी लाये। बड़ी बेतकल्लुफी से बोले, "आओ प्रकाश बैठो, खड़े क्यों हो ?"

मैं चुपचाप एक ईज़ीचेयर पर बैठा। रीता अपने डैडी के पास सोफे पर बैठी। प्रोफेसर साहब ने पूछा, "कुछ चाय, कॉफी वग़ैरह लोगे ?"

"जी नहीं।"

वे आगे बढ़े।

"देखो रीता, मैंने प्रकाश से रिक्वेस्ट की है कि वह तुमको पढ़ाई में थोड़ी-बहुत मदद दे। प्रकाश ने इसे मान भी लिया है, अब तुमको बार-बार दौड़कर मेरे पास नहीं आना पड़ेगा।"

"ओह, यह बात है ?" रीता बोली, "तब तो बार-बार दौड़कर प्रकाश-बाबू के पास जाना पड़ेगा ?"

"रीता हँसी, डैडी हँसे, मैं भी हँसा। खुलकर तीनों हँसे। रीता के हँसने से कमरे में सोनजुही के फूल बिखर गये। आइसबर्ग पिघलने लगा—वही आइस-बर्ग जिससे टकराकर मैं बेहोश हो रहा था।

"डैडी, आपने अपने बचने की तरकीब खूब निकाली।"

नन्हीं बच्ची-सी रीता बोल गयी। प्रोफेसर मुस्कराये।

"प्रोफेसर हूँ, 'ब्रेन' रखता हूँ।" इसी क्रम में रीता के पीठ थपथपाते हुए बोले, "अच्छा तू अब जा। प्रकाश को भी अपनी स्टडी रूम में ले जा।"

"आइये चलिये !" रीता मेरी ओर संकेत कर बोली।

"क़िब्ला आप !" मेरे मुँह से निकला।

रीता आगे-आगे, मैं पीछे-पीछे चल रहा हूँ। उसने सीधे तन पर सीधी ग्रीवा, चाल चलती है हंसों की। चलते हुए पृष्ठ भाग में जो हल्की-हल्की-सी थिरकन पैदा होती है, वह कितनी लुभावनी है। कंचुकी के बटन पीछे लगे हैं, कितने कायदे से कसी है, तन से चिपकी पड़ती है। और कमर के ऊपर तथा ग्रीवा के नीचे वह ढेर-सा सुनहरा भाग जो खुला पड़ा है, कितना आकर्षक है ? मुझे लगा, किसी मैगनेट से खिचा-खिचा पीछे-पीछे जा रहा हूँ।

मन को एक शरारत सूझी। यदि एक झटके से ये सारे 'पुटपुटे' बटन खोल दूँ, तो क्या होगा ? कैसा दीखेगा ?

वाह रूप-राशि !

इतने में एक रंगीन पर्दे को हटाती हुई ग्रीवा मोड़कर रीता बोली, "तशरीफ़ लाइये।"

"शुक्रिया।" कहते हुए मैं आगे बढ़ा।

कमरे में एक राईटिंग टेबिल, पुस्तकों से भरी दो आलमारियाँ, दो कुर्सियाँ और फर्श पर एक कालीन थी। दीवारों पर खूबसूरत फ्रेम में गांधीजी, टैगोर और शेक्सपियर की छवियाँ थीं। एक बड़ी मोहक छवि 'शेली' की फ्रेम स्टैण्ड पर थी।

मैंने कमरे में चारों ओर एक दृष्टि डाली। यहाँ पर एक तो टेबिल-लेम्प थी और एक लटकता बल्ब था। इधर-उधर देखा, तो दीवार पर एक ट्यूब लगी नजर आयी। मैंने पूछा, "वह ट्यूब भी जलती है ?"

"हाँ, हाँ, जला दूँ क्या ?" रीता मुस्करायी।

"बेहतर।"

रीता ने उठकर ट्यूब का स्विच दबाया। क्षण-भर में कमरे में गोया चाँद मुस्कराने लगा। चाँदनी बिखर गयी। उसने पूछा, "ट्यूब की रोशनी आपको बहुत पसन्द है ?"

उसमें सब कुछ चाँदनी में घुल जाता है।

"क्या निकालूँ ?"

"जो जी में आये !"

"ऐज यू लाइक इट ?"

"नो, एज यू लाइक इट।"

रीता को आश्चर्य हुआ। उसने शेक्सपियर का 'ऐज यू लाइक इट' नाटक निकाला। अब राज़ खुल गया। हम जोर से हँस पड़े। हम दोनों का भ्रम दोनों पर खुल गया। पर यह हँसी थी, जो रोके न रुकती थी। इतने में मीता जाने कहाँ से रेंगती-रेंगती टपक पड़ी। बोली, "तो ये पढ़ाई हो रही है जीजी की !

"चल हट, क्या तू मेरी गार्जियन है ?"

"अच्छा, तो मैं अभी डैडी को रिपोर्ट करती हूँ।" कहकर वह ज्यों मुड़ी, तो रीता ने उसकी कलाई पकड़कर उमेठी। वह आँ-आँ करके चिल्लानेवाली थी कि रीता का हाथ झटककर अपनी कलाई छुड़ाकर खड़ी हुई। इस बीच मैं मॉर्टन स्वीट्स मन में घुला रहा था।

"तब तो बार-बार दौड़कर प्रकाशबाबू के पास जाना पड़ेगा।

"जहेकिस्मत।"

रीता ने बार-बार खिसकते आँचल को गले के दो ओर सामने चादर या तौलिये की तरह डाला और छोर को कमर में खोंस लिया। साड़ी में रीता कितनी बड़ी लगती है, कम-से-कम दो बरस बड़ी। सोलह की नहीं, अट्ठारह की। सब कुछ विकसित लगता है, सब कुछ !

"कहाँ से शुरू की जाय ?" रीता ने मेरी निद्रा भंग की।

"जहाँ से जी में आय !" कहते हुए मैं मुस्कराया।

"आपको हर जगह का 'कांटेक्स्ट' याद है ?"

"मैंने इसे कम-से-कम बीसियों बार पढ़ा है।"

"आपको 'ऐज यू लाइक इट' बहुत पसन्द है ?"

"बेहद।"

"क्यों ?"

"क्या पता।"

हम मुस्कराए। वह बोली, "मुझे भी बहुत पसन्द है।"

"क्यों ?"

"क्या पता।"

हम खिलखिलाकर हँस पड़े। इस बार आँखें उठाकर उसने एक बार पूरी नजर मुझे देखा, फिर आखें झुका लीं।

"फिर शुरू से ही शुरू करें ?"

"हाँ, शुरू से ही शुरू करने में···।"

मेरी बात पूरी भी न हुई थी कि वह मुस्करायी। मैं भी मुस्कराया। पढ़ाई आरम्भ हुई।

एक बार यह सिलसिला जारी हुआ, तो फिर बराबर के लिए चल पड़ा। मैं हफ्ते में दो-तीन दिन शाम को आता। रात के आठ-नौ बजे तक यह पढ़ाई का क्रम चलता। चाय और कॉफी. भी चला ही करती, जिसे रीता हमेशा स्वयं बनाती। कभी-कभी प्रोफेसर साहब के इसरार करने पर मैं वहीं रात का खाना भी खा लेता।

मैं बहुधा उन शामों का इन्तजार किया करता जब मुझे रीता को पढ़ाने जाना होता। दिन-भर एक लगन लगी रहती, कब शाम होगी, कब प्रोफेसर साहब के बंगले पहुँचूँगा। अब मैं अपने कपड़ों पर भी कुछ ज्यादा ध्यान देने लगा। दो एक सूट और बनवा लिये, रंझ-बिरंगी टाइयों की संख्या बढ़ गयी। मन में तरह-तरह के रंग भरते, दिल में अरमान जागते और नींद में जाने कितने लुभावने सपने आते।

'As you like it' पढ़ाते हुए 'रोजेलिङ्ग' और 'आरलैंडो' के नाना प्रकार के वार्तालाप मन में रस घोलते रहते; विशेषकर जब वे वेश बदलकर बातें करते। जब आरलैंडों ने जंगल के पेड़ के तनों पर, पत्तों पर रोजेलिग का नाम लिखना शुरू किया, तो रीता आपे में न रह सकी। धीरे से बोली, "वे बड़े खुशकिस्मत होंगे जिनके नाम कोई पेड़ों पर खोदता होगा।"

"हाँ, आसफउद्दौला के इमामबाड़े के फाटक पर बहुत से मजनुओं ने अपनी लैलाओं का नाम अमर किया है।

और हम दोनों खिलखिलाकर हँस पड़े। वातावरण की गम्भीरता हलकी हो गयी।

रीता मन में क्या सोचती होगी ?

क्या उसके मन में रोजेलिङ्ग बनने की साध थी ? फिर उसका आरलैंडो कौन था ?

आरलैंडो कौन ?

मैं मन-ही-मन मुस्कराया।

एक दिन उसने कहा, "प्रकाशबाबू, आपके बाल मिल्टन-जैसे हैं !"

मैंने ज़वाब दिया, "इस जर्रानवाजी के लिए शुक्रिया। मगर आपको मालूम है मिल्टन को उसके कॉलेज के दोस्त क्या कहते थे।"

"क्या कहते थे ?" उसने बड़ी-बड़ी आँखों में चाव तथा उत्सुकता भर के पूछा। शायद ऐसा करते समय उसकी निगाहें मेरे बड़े-बड़े व हलके-से घुँघराले केशों में उलझी थीं।

"लेडी आफ द कॉलेज।"

अब तो हँसी का फव्वारा छूट पड़ा। हम दोनों कुछ देर हँसते रहे। हँसते-हँसते ही वह बोली, "तब तो आपको सावधान रहना पड़ेगा। कहीं आपको भी कोई 'लेडी आफ द कॉलेज' न कहने लगे।"

धत्, "मुझे कौन कहेगा ? मैं जुबान न खींच लूँगा ?

"और यदि मैं कहूँ तो ?"

मैं असमंजस में फँस गया। वह बोली, "मेरी जुबान खींच लेंगे ?"

धत्त, कैसी बात करती हो ?"

"तब तो मैं जरूर कहूँगी, 'लेडी आफ द कॉलेज'।"

× × ×

हमारी पढ़ाई के बीच इसी तरह की कोई-न-कोई चर्चा आ जाती और सारे वातावरण में रस भर जाता।

मेरी आदत जल्दी सोने और जल्दी उठने की थी। मैं अपनी पढ़ाई सबेरे चार बजे से किया करता था। विशेषकर जिस दिन शाम को टेनिस खेलता; मारे थकावट के नींद जल्दी आती।

एक ऐसी ही शाम को हम दोनों टेनिस खेलकर लौटे और चाय पीकर पढ़ाई पर जुट गये। रात के आठ बजे मैंने डिनर भी वहीं प्रोफ़ेसर साहब के साथ खाया और फिर रीता को पढ़ाने में व्यस्त हो गया। रीता की परीक्षा पास थी, कोर्स लम्बा था, किसी-न-किसी तरह पूरा करना ही था। इसलिए हम अन्धाधुन्ध जुट पड़े। नौ बजते-बजते हमारी आँखों में नींद झूलने लगी। एक दूसरे का चोर पकड़कर हम झेंपते, शरमाते और फिर सजग हो जाते। यह सिलसिला जाने कितनी देर चला।

जब आँखें खुलीं, तो देखा प्रोफेसर साहब एक हाथ से रीता का और दूसरे हाथ से मेरा कन्धा पकड़े हैं। वह मारे नींद के जम्हाइयाँ और अंगड़ाइयाँ ले रही थी। उसके केश उलझे-पुलझे थे। प्रोफेसर साहब कह रहे थे, "जा बेटा रीता, सो जा।"

मुझसे बोले, "प्रकाश, तू भी गेस्ट रूम में जाकर सो जा। बिस्तर तैयार है।"

जब आँखों में झूमती नींद कुछ टूटी, तो मुझे परिस्थिति का आभास मिला। मैं बेहद शर्मिन्दा हुआ और बोला, "जी नहीं सर, मैं चला जाऊँगा।"

प्रोफेसर साहब ने रुकने के लिए बहुत इसरार किया। पर, मैं किसी भी तरह राजी न हुआ और लखनऊ के जाड़े-पाले की रात में ग्यारह बजे अन्धाधुन्ध पैडल मारता, हजरतगंज होता हुआ अपने हॉस्टल की ओर चल पड़ा।

ठण्ढी हवा का झोंका लगने से नींद बिल्कुल काफ़ूर हो गयी। तन-मन में चेतना जागी और मैं सोचने लगा, प्रोफ़ेसर साहब ने चुपचाप कमरे में जाकर हम दोनों को किस हालत में पाया होगा, उस टेबिल पर जब रीता और मैं दोनों ही सिर रखकर सो गये; तब तो हमारे केश एक दूसरे से जरूर उलझे होंगे। और यदि कहीं अनजाने आमने-सामने मुँह करके लेट गये होंगे, तब तो गज़ब ही हुआ होगा। प्रोफेसर साहब ने क्या देखा, कितना देखा, कैसे देखा?

मुझे तो कुछ पता ही न चला। जब मेरी आँखें खुलीं, तो रीता उठ बैठी थी और आँखें मल रही थी। क्या हुआ ?

क्या हुआ ? क्या हुआ ? क्या हुआ ?

मैं सोच-सोचकर पागल होने लगा, इस उलझन में। पड़ा रहा बिस्तर में बड़ी रात तक। पिछली रात तक नींद न आयी। अब भला कौन-सा मुँह दिखाऊँगा प्रोफेसर साहब को ? कौन सा मुंह दिखाऊँगा रीता को। ना, ना, ना, अब नहीं जाऊँगा उनके घर, कभी नहीं जाऊँगा, कभी नहीं।

● ● ●

६

मैंने अपनी पुस्तकें सँभालीं, पढ़ने की ओर ध्यान दिया। परीक्षा पास थी, फर्स्ट क्लास लाना था। काम कोई आसान तो था नहीं। दिन-भर पढ़ता, चाय पीता, कॉफ़ी पीता और शाम को अपना व्यग्र मन लिये गोमती के किनारे घूमने चला जाता। क्लासें होती नहीं, कॉलेज जाता नहीं, प्रोफ़ेसर से मुलाकात कहाँ हो ?

पर मन में हर घड़ी, हर पल, हर क्षण कोई कहता रहता—तुम्हारी खोज हो रही है। खोज ? मात्रभ्रम भी तो हो सकता था। प्रोफ़ेसर साहब को मेरा नाम मालूम हैं, मेरा हॉस्टल मालूम हैं, मेरा कमरा मालूम है। वे जब चाहें, मुझे बुलवा सकते हैं। रीता भी जानती है। बेयरे से संदेश भेज सकती है, मीता से बुलवा सकती है, खुद आ सकती है।

नहीं, नहीं, नहीं, कौन किसे खोजता है ? कौन किसको पूछता है ? सारी दुनिया एक-सी है, सभी दुनियादार हैं, समझदार हैं। ठीक है, मेरे पास भी गौरव है। ग़रूर है, मैं नहीं जाऊँगा, हरगिज़ नहीं जाऊँगा।

मैंने अपने छटपटाते मन को एक झिड़की दी। मन ! ऐसा बेहया, जिसे रीता छोड़ और कुछ सूझे ही नहीं। क्या रीता भी............?

वसन्त की शुरुआत होते ही पेड़-पौधों तक में नया जीवन आ जाता है। नयी कोपलें, लाल पत्ते, हरे पत्ते सभी मुस्करा उठते हैं, एक बहार छा जाती, फूल खिलते, आम बौराते, भँवरें गूँजते, कोयल बोलती, बतास नशीली हो उठती, चाँदनी तन-मन को झकझोर देती और मैं मंकी ब्रिज के पासवाले घाट की सीढ़ियों पर घंटों चुपचाप बैठा रहता। चाँद को देखता, गोमती के जल को देखता, जल में घुली चाँदनी को देखता और देखते-देखते तन की शिराएँ मारे तनाव के फ़टने-फटने को हो जातीं तो उठकर चल देता, मन्थर गति से, भारी कदम उठाते हुए हॉस्टल की ओर।

इधर काफी अरसे से टेनिस खेलने नहीं गया था। तन-मन में घिरनेवाले कुहासे को मिटाने के लिए हाथ में रैकेट ले चल पड़ा टेनिस क्लब की ओर। पहला गेम शुरू ही किया था कि देखा प्रोफेसर लाल की कार क्लब के फाटक के भीतर घुसी और उसमें से निकले कौन ? रीता, मीता और एक युवक जो शायद फर्स्टइयर में पढ़ता था। कर्नल भाटिया का लड़का, टेनिस का अच्छा खिलाड़ी, रीता का लगभग हमउम्र। तीनों टेनिस ड्रेस में थे।

तो ये बात है ?

तुम न सही और सही।

क्या काम हैं प्रकाशबाबू का ? प्रकाशबाबू, आपके बाल मिल्टन की तरह हैं। मिल्टन की तरह ? सैमसन की तरह, सैमसन, डेलाडला, नागिन, नागपाश।

आग लग गयी मेरे सारे तन में। वे लोग एक और खिलाड़ी के साथ बगल-वाली लॉन में फोरसम खेलने लगे। मेरा गेम ज्योंही खत्म हुआ, मैं चल पड़ा। साथियों ने इसरार किया, पर रुका नहीं। सभी ताज्जुब में आ गये। जब मैं अपनी साइकिल उठाने जा रहा था, तो रीता गेम छोड़कर दौड़ती हुई मेरी

ओर आयी। उसने पुकारा, "प्रकाशबाबू।" और मेरे पास पहुँचे-पहुँचे कि तब-तक मैंने पैडल मारी और नौ-दो ग्यारह हो गया। किसे होश था, जो हॉस्टल जाय। विक्टोरिया पार्क, छत्र-मंजिल, मेडिकल कॉलेज, आसफउद्दौले का इमामबाड़ा पार करता हुआ हुसेनाबाद पार्क में पहुँचा और नवाब वाजिदअलीशाह की 'आर्ट गैलरी' के नीचेवाले तालाब की सीढ़ियों पर जाकर ढेर हो गया। सब कुछ सुन्न हो गया जैसे मन-मस्तिष्क के समस्त अंग-उपांग गतिहीन हो जाएँ। लगा, जैसे उड़नेवाले प्लेन का इंजन एकाएक रुक गया। मैं कुछ सोचता नहीं, समझता नहीं, गुनता नहीं, कुछ भी तो नहीं करता था। फटी-फटी-सी आँखें लिये कभी जल को देखता, कभी मीनार को और कभीं आकाश को ताकता। होश में तब आया, जब घण्टाघर की घड़ी ने बारह बजाये और चौकीदार ने आकर टोका। मैं यन्त्रवत् उठा, मैंने साइकिल उठायीं और चल दिया यूनिवर्सिटी की ओर।

दिन यूँ ही बीतते गये। मन नरक की यंत्रणा सहता रहा, भयानक कशमकश में पिसता रहा और मस्तिष्क परीक्षा की तैयारी करता रहा। परीक्षा आयी भी, गयी भी। मैं गर्मी की छुट्टियों में गाँव जाने को तैयार हुआ। गाड़ी चारबाग स्टेशन से नौ-बजे रात को छूटती थी। आठ बजे ताँगे बुलाये गये थे। हम ढेर-से विद्यार्थियों को जाना था। हॉस्टल में बड़ी हलचल थी। सात बजे खाना खा लेना था। मैं सामान की पैकिंग में बुरी तरह व्यस्त था कि दरवाजे पर हल्की-सी दस्तक हुई। मैंने बिना देखे कहा—'कम इन'।

आनेवाला दबे पाँव आया, पर दरवाजा बन्द करता आया। ऊँची सैंडिल की एक विशेष प्रकार की 'खट-खट' ने मेरा ध्यान आकर्षित किया। मैंने मुड़कर देखा, सामने रीता खड़ी थी। उसी वेश में, उसी रूप में, उन्हीं वस्त्रों में, जिन्हें वह हमारी पढ़ाई के पहले दिन पहने हुए थी, बिल्कुल अकेली। आँखें मिलते ही वह कुछ बोलने को हुई, उसके होंठ हिले, मुँह खुले, हाथ फैले, पर, मैंने झट से मुँह फेर लिया और सामान की पैकिंग में पूर्ववत् लीन हो गया। यह क्रम कुछ देर चलता रहा। रीता ने ही मौन भंग किया। काँपती आवाज में बोली, "प्रकाशबाबू"।

मैंने सुनी-अनसुनी कर दी । सामान पैक करता रहा । वह चुपचाप खड़ी रही । उसने दो-तीन बार मेरा ध्यान आर्कर्षित करने की चेष्टा की, पर मैंने उसके हर प्रयत्न को झिड़क दिया । मैं उसकी ओर तब मुखातिब हुआ, जब धीमी-धीमी, दबी-दबी सिसकियों की आवाज़ कानों में आयी । मैंने मुड़कर पूछा, "रीता, क्या बात है ?"

इतने में वह अपना मुँह दोनों हाथों से ढककर पास ही पड़ी आरामकुर्सी पर धम से पड़ गयी । सिसकियों का तार बँध गया । मैं अजीब असमंजस में पड़ गया । एकान्त कमरा, सिसकती रीता और पास-पड़ोस में कॉलेज के सैकड़ों विद्यार्थी ! आरामकुर्सी की बाँह पर बैठते हुए मैंने उसके दोनों हाथ अपने हाथ में लेकर ढाढ़स देने की कोशिश की । पर, उसने अपना मुँह मेरी छाती में गाड़ दिया और सिसक-सिसककर, फूट-फूटकर रोती रही । मेरी दुविधा का कोई अन्त न था । मैं क्या जानता था कि जो नाटकों, कहानियों, उपन्यासों में होता है, वही मेरे साथ, मेरे ही जीवन में घट जायेगी ? इस नाजुक परिस्थिति से उबरने के लिए मैंने उसकी पीठ थपथपायी और धीरे-धीरे बड़े प्यार से उसका सिर अपने दोनों हाथ में लेकर उठाया । वह बड़ी देर तक मेरे प्रयत्न को विफल करती रही, पर अन्त में जब उठी, तो मारे लाज के आँख से आँख न मिला सकी । आँसू पोंछने के लिए जब मैंने अपनी रूमाल जेब से निकालकर दी, तो वह वह मुस्करायी और फिर उसने अपना मुँह फेर लिया । इतने में दरवाजे पर 'खटखट' की आवाज हुई । मैं जानता था—मेरे साथी होंगे, साथ जानेवाले । देर हो रही थी, ताँगावाला उकता रहा होगा, कितनी दूर जाना था ताँगें को ? घड़ी में देखा, आठ बज चुके थे। बोला, "भाई, तुम लोग चलो मैं आ जाऊँगा ।" बाहर से जोर की हँसी और खिलखिलाहट की आवाज आयी—शैतान कहीं के ।

रीता बड़े धीमे स्वर में बोली, "उनको जाने दो । मैं तुमको गाड़ी से छोड़ आऊँगी ।"

मैं एकदम से चकित रह गया, इस 'तुम' पर । इतना अधिकार और इतने सहज़ भाव से ! आँसुओं की इतनी बड़ी कीमत ? मन में आया, कह दूँ—"आपको इतनी तकलीफ करने की कोई जरूरत नहीं जी, शुक्रिया !" पर जब उसकी

ओर निगाह पड़ी तो लगा कि इस घायल हिरनी को और तीर मारना पूरे बधिक का काम है। कुछ बोला नहीं। आँखों-ही-आँखों में 'हामी' भरी, वह आँखों में ही मुस्करायी और कुछ खुश नजर आयी।

सामान बँध चुका था, नौकर को बुलवाकर रीता की कार में रखवाया और हम दोनों चुपचाप गाड़ी में बैठ गये। गाड़ी चल पड़ी।

हम दोनों मौन थे। मौन थे और पास-पास थे, इसकी एक निराली तृप्ति मन में घुल रही थी। मैंने उसका बायाँ हाथ अपने दाहिने हाथ में दबा लिया था और उँगलियों में उँगलियाँ उलझा ली थीं। इन उँगलियों की राह एक शीतल, स्नेहसिक्त सामीप्य की धारा प्रवाहित हो रही थी।

जब कार हजरतगंज से आगे बढ़ी, तो वह धीरे से बोली, "डैडी घर में तुम्हारा इन्तजार कर रहे हैं। चलोगे नहीं?"

ओह, इतना भय, इतनी विनय, इतनी बेवसी! मैंने इस कली को शायद बुरी तरह रौंद डाला अनजाने, अनबूझे। घड़ी की ओर देखा तो वह बोली, "अभी बहुत वक्त है गाड़ी में।"

जिज्ञासु भाव से मेरी ओर ताकने लगी तो मैंने मुस्करा दिया। वह ड्राइवर को अपने बंगले चलने का आदेश दे मौन हो गयी और यह मौन तब तक भंग नहीं हुआ, जब तक हम बंगले के फाटक के भीतर न पहुँचे। भीतर पहुँचते ही उसने अपना हाथ मेरे हाथ से छुड़ा लिया और गाड़ी का दरवाजा खोल पहले उतर पड़ी। प्रोफेसर साहब बरामदे में खड़े थे। तुरन्त पूछ बैठे, "लायी प्रकाश को?"

वह आवाज में धरती-आकाश का सारा उत्साह भरकर बोली, "और क्या? मैं हार माननेवाली हूँ।"

इतने में मैं भी गाड़ी से उतर पड़ा और प्रोफेसर साहब को नमस्ते की। वे बोले, "आओ प्रकाश। बहुत दिनों बाद दिखायी दिये। तुम तो गोया इधर का रास्ता ही भूल गये थे।"

सकुचाते, सिर झुकाते हुए मैंने कहा, "जी, 'एकजैम' में मशगूल था। इसीलिए इधर न आ सका। माफी चाहता हूँ।"

"कोई वात नहीं, कोई वात नहीं कहते हुए उन्होंने एक हाथ मेरे कंधे पर रख दिया और लेकर ड्राइंगरूम में चल दिये। सोफे पर बैठने के साथ उन्होंने पूछा, "छुट्टियों में क्या करनेवाले हो। कहाँ जाओगे ?"

मैं धीरे से बोला, "जी, अभी तो गाँव जा रहा हूँ। गाड़ी नौ वजे है।"

"प्रकाश, वात यह है कि हम लोग इन गर्मियों में दार्जिलिंग जाना चाहते हैं। सोचते थे, अगर तुम भी साथ चलते तो अच्छा था।"

"जी, कब तक जाने का इरादा है ?"

"अभी तारीख नहीं तय की है ?"

"मैं इस बीच गाँव हो आऊँ तो कैसा ?"

"अच्छा, हो आओ फिर देखा जायेगा।"

मैंने देखा, इस बीच रीता व्यग्र हो रही है। मौका पाते ही बोल पड़ी, "डैडी, इनको नौ वजे गाड़ी पकड़नी है और इन्होंने खाना नहीं खाया है। इनको थोड़ी चाट।

चाट के नाम से ही सभी खिलखिलाकर हँस पड़े। सच तो यह है कि रीता को चाट बहुत पसन्द है और जव किसी को बेहद दुलार करती है, तो उसे चाट खिलाती है।

प्रोफेसर साहब बोले, "हाँ-हाँ, फिर जल्दी करो।" और उठ खड़े हुए। कमरे से जाते-जाते वोले, "विश यू हैपी जर्नी प्रकाश, खत-वत देते रहना।

जाने कब इसी वीच मीता कमरे में टपक पड़ी। मेरा हाथ पकड़कर डाइनिंग रूम की ओर घसीटते हुए बोली, "प्रकाशवाबू, आप तो ऐसे गायब हुए जैसे गधे के सिर से सींग।"

"यह गधा कौन था री ?"

अपनी जीजी की ओर ताकती हुई जो बेयरे के साथ टेविल पर प्लेटों में चाट सजाने में व्यस्त थी, बोली, "जीजी, और कौन ?"

"अच्छा रह, मैं तुझे अभी ठीक करती हूँ मीता।" रीता वोली।

"अभी चाट तो खा लेने दे जीजी प्रकाशवावू के साथ, नहीं तो क्या पता अब की गायब हों तो फिर ईद के चाँद की तरह जल्द दिखायी ही न पड़ें!"

मैं जानता था, ये व्यंग्य मेरे ऊपर कसे जा रहे थे, पर भला इनका जवाब क्या देता। हम तीनों चाट खाने में व्यस्त हो गये, जो बड़ी स्वादिष्ट बनी थी। रीता तो बस मौन थी, कुछ बोलती ही नहीं थी। पर, मीता की जुबान तेजी पर थी। बोली, "अच्छा प्रकाशबाबू, आप जलते भी हैं ?"

मैं ताज्जुब में आ गया, चकित भाव से बोला, "जलते हैं ? अरे भाई किससे ?"

"दिनेश से ! वह तो......"

"दिनेश ? कौन दिनेश ?"

"वही जो मेरे और जीजी के साथ उस दिन क्लब में टेनिस खेलने गया था और आप उसे देखते ही ऐसे भागे...।"

"जैसे गदहे के सिर से सींग। मैंने जोड़ा।

हम तीनों बड़े जोर से हँस पड़े। मीता बोली, "उस दिन जीजी पुकारती ही रह गयीं, पर भला आप क्यों सुनने लगे ?" हमारी चाट खत्म हुई, जल्दी से पानी पिया और गरम जलती चाय पीने लगे, जिससे होंठ तो क्या, कण्ठ तक जलता था। मीता को इसमें मजा आ रहा था, पूरी शैतान जो ठहरी। मैंने पूछा, "मीता, तू भी स्टेशन चलेगी मेरे साथ ?"

बोली, "मैं क्यों कबाब में हड्डी बनूं ? आप जीजी को ले जाइये न ? वही बुला लायी है, वही छोड़ भी आयेगी।"

रीता झेंप गयी, भला मीता को किस-किस बात का जवाब दे। फिर तो हम दोनों जल्दी से उछलकर गाड़ी में जा बैठे और चारबाग स्टेशन की ओर चल दिये।

गाड़ी छूटने में अब देर न थी, हरी बत्ती जल गयी थी, हम दोनों जल्दी-जल्दी प्लैटफार्म पर चल रहे थे। दूर से ही मेरे साथियों ने देखा, एक साथ बड़े जोर से चिल्लाये—"प्रकाश हूर्रा, हिप-हिप हूर्रा।" कुली ने दौड़कर उस कम्पार्टमेंट में मेरा ट्रंक, होलडाल और किताबों का गठ्ठर फेंका। इंजन ने ह्विसिल दी। रीता को मेरे साथियों की भेड़ियों की तरह खूंखार आँखें टक-टक ताक रही थीं। बेचारी रीता मारे लाज के गड़ी जाती थी, मानो सैंडिल की नोक से धरती खोदकर उसमें गड़ जाना चाहती हो। फिर भी साहस कर उसने कहा,

"प्रकाश, एक बात सुनो।" और मारे घबराहट के मेरी उँगलियों को उमेठती, दबाती हुई बोली, "मन में फिर कभी मैल न लाना और हो सके तो मुझे कभी-कभी याद.......।"

मुझसे कुछ भी उत्तर बन न पड़ा। मैंने केवल आश्वस्त करने के लिए उसका हाथ अपने हाथ में लेकर दबाया और रेंगती हुई गाड़ी में चढ़ गया। बेचारी रीता निर्निमेष दृष्टि जमाये रह गयी। मेरे साथियों ने फिर से 'हूर्रा' की आवाज लगायी और अपनी-अपनी रूमाल निकालकर रीता की ओर हिलाने लगे।

इस हुड़दंग के बीच न तो रीता को साहस पड़ा कि रूमाल हिलाये और न मुझे। पर दूर तक प्लेटफार्म पर फ्लोरिसेंट ट्यूब लाइट के नीचे खड़ी रीता को देखता रहा। जब तक वह आँखों से बिलकुल ओझल न हो गयी, बराबर अपने ऊपर कसी जानेवाली आवाजें सुनता रहा।

● ● ●

७

रीता के प्यार की खींचतान में थका हुआ मन लिये मैं गाँव पहुँचा। गाँव, जो मारे गर्मी के धू-धू करके जलता, बगूले उठते और नदी-तीर की रेत आँखों में भर जाती। शाम को आँधियाँ आतीं, पेड़ थर-थर काँपते, डालियाँ टूटतीं और फूस के झोंपड़े तथा टीन की छतें उड़कर दूर जा पड़तीं।

खेत कट चुके थे। दौनी हो रही थी। कोसों दूर तक तपती धूप में नंगे जलते खेत दिखायी देते। आँखें चौंधिया जातीं। भूखे-प्यासे ढोर घास के तिनके

और जल की एक-एक बूँद के लिए मारे-मारे फिरते। इन दिनों बहुधा नदी सूख जाती। कहीं मील-दो-मील चलने पर नदी के कछार में थोड़ा-बहुत जल मिलता। जहाँ बच्चे-बूढ़े-जवान छककर नहाते और ढोर प्यास बुझाते।

गर्मी इतनी भयानक पड़ती कि नदी, तालाब, कुएँ का जल सूख चलता। होंठ सूखते, कण्ठ सूखते। लगता, तन से प्रान सूखकर उड़ जायेंगे।

ऐसे में भला प्यार-दुलार की बातें क्या सूझतीं? तन-मन में आलस छाया रहता। दोपहरी में माटी के घर में, माटी की गीली फ़र्श पर चटाई बिछाकर सोता। तीसरे पहर कलकत्ते में पढ़नेवाले कुछ दोस्तों के साथ ताश खेलता। शाम होते-होते कुछ शर्बत छनती। फिर हम सभी दोस्त नदी तीर की ओर घूमने निकल जाते। गाँववाले आँखें फ़ाड़-फाड़कर देखते, मन में सोचते, ये लड़के कितने भाग्यशाली हैं? मौज करने के सिवा इनके पास क्या काम है? काम के कोल्हू में ये कभी जुते नहीं। भला उसका भार क्या जानें?

इस प्रदेश की एक निराली बात यह है कि शादी-ब्याह इन्हीं दिनों होते हैं। गरीब खेतिहर लोग घर में अनाज होते ही फूल उठते हैं और शादी-ब्याह, नाच-रंग, हँसी-खुशी की बातें सोचने लगते हैं। हाथी, घोड़े और बारात के चलने, टिकने के लिए खाली खेत एवं मैदान मिल जाते हैं। गर्मी की रातों में ओढ़ने-बिछौने की कोई खास ज़रूरत नहीं पड़ती। जो जहाँ चाहा, नाच देखने से फुर्सत मिली, तो पड़ रहा। ऐसी सुविधा भला और कब मिलती? क़हाँ मिलती?

चिलचिलाती धूप में पाँच-पाँच सात-सात आदमियों का दल निकलता, गाँव-गाँव मारा-मारा फिरता लड़के की खोज में। हर लड़की को लड़का चाहिए। सोलहवाँ लगते-लगते लड़की शादी के लिए 'ओभर एज' समझी जाती।

गर्मियों में स्कूल-कॉलेज महीनों के लिए बन्द होते। अतः पढ़ने-लिखनेवाले लड़के सभी अपने गाँव में होते। उनको देखने में सुविधा होती। अनाज की बोरियाँ और बैलों को देखने का सुयोग होता। इन घूमने-फिरनेवाले दलों में कुछ एक तो बैल के गाहक होते जिन पर लड़के का गाहक होने का भ्रम होता और गाँव के कितने ही घरों में एक कलह का कारण बन जाता।

मैंने जीवन के बीस साल· पूरे कर लिये थे। मैंने बी०काम०की परीक्षा दी थी। इसलिए इन लड़के के गाहकों की दृष्टि में कुछेक के लिए मैं 'ओभर-एज' था और कुछेक के लिए बस ठीक था। हर आदमी पढ़ा-लिखा लड़का चाहता, चाहे लड़की ने एक अक्षर न पढ़ा हो। लड़की नहीं पढ़ी-लिखी है तो क्या हुआ ? कोई नौकरी थोड़े करनी है। दामाद तो पढ़ा-लिखा चाहिए ही। ऐसे लोगों का एक-न-एक दल हर दूसरे-तीसरे मेरे दरवाजे पर जमा होता, टलने का नाम न लेता, पिताजी घर में होते नहीं, क्योंकि मेरी बहन कमला की शादी के लिए वे भी वाहर अन्य गाँवों में जाते। कभी तीन चार दिनों पर लौटते और कभी हप्तों लग जाते। इस बीच मुझे देखनेवालों की जमात दरवाजे पर जमा रहती, जैसे किसी क़िले पर घेरा डाला गया हो और उसे बिना लिये छोड़ने-वाले नहीं हों। ये लोग मेरे घर का अन्न-जल न खाते, न पीते। मुझे वहुत ही बुरा लगता। पर मैं भला क्या कर सकता था। मेरी दृष्टि में इनकी 'न्यूसेन्स वैलू' बहुत थी। ये मेरे सिर की बला थे, जो टले नहीं टलते थे।

इधर हर रोज़ आसपास के गाँव से लू लगने और मरने की खबरें आया करती थीं। ऐसी खबरों से मैं वरावर चौंक उठता था। मेरे मन में आशंका छा जाती, कहीं पिताजी को भी·······।

पिताजी को एक नहीं, वल्कि दो-दो चिन्ताएँ सवार थीं। लड़का खोजने के अलावा उन्हें रुपया भी खोजना था। शादी के लिए कम-से-कम दस हजार रुपये तो चाहिए ही। ऊपर से पांच हजार रुपये हमारे प्रीमियम के जमा करने थे, चार्टर्ड एकाउण्टेण्ट होने के लिए आर्टिकिलशिप की फीस जमा करनी थी।

पिताजी मेरी शादी भी बड़ी धूमधाम से कर देना चाहते थे, किन्तु मेरे गाहकों से वात करने की उन्हें फुर्सत ही न मिलती थी। इसीलिए वह वात पीछे पड़ी रह जाती थी।

इस बीच रीता के भी कई पत्र आये। वह वरावर लिखती रहती थी। उसके पत्रों में बहुधा उससे पढ़े जानेवाले उपन्यासों के पात्रों तथा घटनाओं की चर्चा होती। उसके द्वारा देखी गयी फिल्म्स की टीका-टिप्पणी होती, टेनिस या बैडमिण्टन में मन नहीं लगने की वात होती।

मैं भी उसको बराबर खत देता, जिनमें गाँव की भयानक गर्मी, किसानों की भयानक गरीबी और क्षणिक खुशहाली का बयान होता। मैं इन पत्रों में अपते गाहकों की भी चर्चा किये बिना न रहता। रीता उनमें बहुत रस लेती और मेरी होनेवाली बहुओं की फोटो माँगती। पर, भला गाँव में फोटो लेकर कौन घूमता है? लड़की देखने-दिखाने की बात ही अपमानजनक समझी जाती, शान के खिलाफ़ मानी जाती।

हमारे पत्रों में एक खास बात थी। प्रेम या रोमांस की कहीं कोई चर्चा न होती। चाँदनी रातें, नदी का किनारा, कोयल का कूकना, वसन्त की नशीली हवाओं का बहना—ये सब बातें कोई स्थान न पातीं। फिर भी एक बात तो थी ही। मैं लगभग रोज डाक-घर में जाता और वहाँ पर डाक के थैले से गिराये गये सैकड़ों पत्रों के बीच से रीता के पत्र को झट से पहचान लेता········ पहचान लेता जैसे कार्निवल की हजार सूरतों में किसी एक सूरत को निगाहें पकड़ लें।

रीता के लिफाफे पर उसकी सुन्दर लिखावट चहक उठती, मेरा मन खिल उठता, मैं मुस्करा उठता और उसे पोस्ट-आफिस की मुहर लगने से पहले ही मैं उठा लेता। बुजुर्ग पोस्ट-मास्टर चश्मे को नाक के छोर तक गिराकर उसके बाहर से ताकते और मुस्कराते हुए कहते, "बेटे, भला इतनी उतावली क्यों? पोस्ट-आफिस की मुहर तो लग जाने दे।"

इतने में मैं लिफाफा फाड़कर पत्र निकाल लेता और फटा लिफाफा उनकी ओर फेंकते हुए कहता,

"लो चाचा, लगाओ अपनी मुहर।"

मेरे इन शब्दों को सुनकर आसपास खड़े लोग हँस पड़ते।

एक दिन पिताजी ग्यारह बजेवाली गाड़ी से स्टेशन से उतरकर ठीक दोपहरी में, चिलचिलाती धूप में घर आये। स्टेशन हमारे गाँव से कोस-भर दूर पड़ता था। पिताजी को काफी तेज धूप लगी थी। मुंह झुलस गया था। उसके बावजूद वे कुछ खुश ही नजर आये।

उनके आते ही मैंने मंगरू (नौकर) से एक घड़ा ताजा ठण्ढा जल कुएँ से लाने के लिए कहा और पिताजी को पंखा झलने लगा। मेरे छोटे भाई प्रभात और अरुण भी घेरकर खड़े हो गये। माँ ने घर की देहरी पर खड़ी होती हुई वहीं से पूछा, "क्या हुआ ?"

"फलदान तो दे आया।"

इधर महीनों बाद माँ के चेहरे पर एक क्षीण मुस्कान फैल गयी। माँ होंठों से कम और आँखों से ज्यादा मुस्कुराती है। इधर बराबर उसका खिचा हुआ चेहरा देखने का आदी हो गया था। कुछ दिनों से वह छोटी-छोटी बात पर भी झुंझला उठती और कमला पर बरस पड़ती।

और कमला थी कि यह सब चुपचाप सहती रहती। बेचारी रो भी नहीं सकती थी। उसने कन्या-रूप में पैदा होने का अपराध जो किया था। फिर भोगता कौन ?

माँ ने बात आगे बढ़ायी। पूछा, "कहाँ ?"

-'अमृतपाली !"

"घर-वर कैसा है ?"

"लड़का बीस-इक्कीस साल का है, एम० ए० का इम्तहान दिया है, पचास बीघे की खेती है, माँ-बाप हैं, तीन छोटे भाई और एक बहन है।"

"सुन्दर है ?"

"तुम्हारे लड़कों से तो अच्छा ही है।" कहते-कहते पिताजी मुस्कराये। फिर जिन्होंने अपनी पगड़ी और चादर उतारकर अलग रख दी। मंगरू उनके जूते निकालकर ठण्ढे पानी से पाँव धोने लगा।

माँ ने जरा रुककर पूछा, "कुछ देन-लेन की भी बात तय हुई है ?

"हाँ, पाँच हजार तिलक और दो हजार दहेज, जिसमें से एक हजार कैश होना चाहिए।" कहते-कहते पिताजी का चेहरा उदास पड़ गया। माँ के चेहरे पर उभरी खुशियों की रेखाएँ विलीन हो गयीं। हाथ में पड़े एक तिनके को टुकड़े-टुकड़े करके धीरे-धीरे धरती पर बिखेरती हुई वह धीरे से बोली, "तब तो कम-से-कम दस हजार लगेगा।"

पिताजी खोये-खोये-से आहिस्ते-से बोले जैसे अपने से ही बात कर रहे हों, "हाँ, दस हजार।"

"दिन भी पक्का हुआ है ?"

"हाँ, सात दिन बाद तिलक और उसके पन्द्रह दिन बाद शादी।"

"इन शब्दों के साथ पिताजी का चेहरा पहले की अपेक्षा और उदास हो गया। शर्बत पीते हुए हाथ का गिलास हाथ ही में रह गया और माँ देहरी से उठकर धीरे-धीरे घर के भीतर चली गयी।

● ● ●

८

ज्यों-ज्यों तिलक का दिन पास आने लगा, त्यों-त्यों रुपयों की चिन्ता हमारी जान खाने लगी। रुपये उधार देनेवाले महाजनों के पास पिताजी रात-दिन दौड़ते, मुझे भी भेजते। पर वे सूद का ऐसी दर बताते कि हमारे कान खड़े हो जाते। और सच बात तो यह थी कि उनकी निगाह हमारे दियारे के खेतों पर थी, जो सोना उगलते थे—कार्तिक में धान और फागुन में गेहूँ। पिताजी बाप-दादे की इस सम्पति मैं से एक इंच भी देने को तैयार न थे। ये खेत ही तो हमारे 'कैपिटल' थे। उनको देकर हम जीते किस भरोसे, करते क्या ?

मगर दिन तो एक-एक कर छीजते ही जाते थे। महाजनों को जरूरत के ठीक दिन का पता था, इसलिए वे जिद्द पकड़ते जा रहे थे। वे अपनी माँग से टस-से-मस नहीं होना चाहते थे। वे यह भी जानते थे कि रुपया देना तो दूर,

हमारे रुपया माँगने की चर्चा करके भी वे समाज में हमारी पगड़ी उछाल सकते थे।

इन्हीं दिनों रीता का एक पत्र आया, जिसमें दार्जिलिंग जाने का दिन, तारीख और ट्रेन लिखा था। उसने यह भी लिखा था कि प्रोफेसर साहब चाहते हैं, मैं उन लोगों से छपरा स्टेशन पर मिलूँ और उनके साथ दार्जिलिंग जाऊँ। मगर यहाँ होश किसे था, दम मारने की तो फुर्सत नहीं थी, घर की इज्जत-आबरू फाँसी के तख्ते पर टंगी थी। मैंने पत्रोत्तर तक नहीं दिया।

पिताजी ने तो चिन्ता करते-करते करीब-करीब खाट ही पकड़ ली। उन्हें न भूख लगती, न प्यास। कोड़े मार-मारकर थके और जर-जर तन को चलाते-फ़िराते रहते।

तिलक में केवल एक दिन बाकी रह गया। रुपये का प्रबन्ध नहीं हो सका। हम सभी हार मान गये। पिताजी के यहाँ से महाजन के पास खबरें देते-लेते, मैं थक़ गया पर, नतीजा कुछ न निकला। परिस्थितियाँ हमारे समूचे परिवार को निगलने के लिए मुँह बाये खड़ी थीं।

आखिरी दिन पिताजी ने हार मान ली और सौदा तै हो गया। पन्द्रह हजार रुपये के सूद की एवज़ में दियारे के सब से अच्छे पचास बीघे खेत दे दिये गये रेहन। वे हमको तभी वापस मिल सकते थे, जब हम पन्द्रह हजार रुपये लौटा देते; जिसकी कोई भी आशा निकट या सुदूर भविष्य में दिखायी नहीं देती थी। लिखा-पढ़ी तिलक के बाद होने की बात ठहरी।

इस सौदे के तय होने पर मेरे घर में एक प्रकार का मातम मनाया गया! पिताजी ने कहा, "बच्चों के मुँह पर 'जाबी' चढ़ गयी।"

उनकी ऊपर उठी रहनेवाली मूँछें नीचे गिरने लगीं, सिर झुक गया, कमर झुक गयी। उन्होंने एक तरह से खाट ही पकड़ ली। वे तिलक नहीं चढ़ाने गये। केवल मैं गया, परिवार और समाज के कुछ लोगों को लेकर।

जहाँ कमला की शादी हो रही थी, वे लोग बड़े सज्जन और सुशील लगे। विशेष तौर से हमारे होनेवाले जीजाजी। हमारी उनकी बातें ऐसे घुल-मिलकर हुईं जैसे हम एक दूसरे को बहुत दिनों से जानते हों। संकोच का बाँध टूट जाने

पर उन्होंनें कुछ बातें कमला के बारे में भी पूछीं और मैंने निःसंकोच बता दी। बता ही न दी बल्कि उनको ऐसे सवाल पूछने के लिए उत्साहित भी किया। यदि मेरी चलती तो मैं उनको चुपचाप ले जाकर कमला के सामने खड़ा कर देता। पर गाँव में ऐसा भला कहाँ सम्भव था ? समाज के बन्धन हमारे हाथ-पाँव जकड़े हुए थे। मैंने कमला की एक फोटो तुरन्त भेजने के वादे के साथ उनसे विदा ली। ऐसा लगता था कि मेरे शील-स्वभाव से वें लोग भी काफी प्रसन्न और प्रभावित थे।

हम तिलक देकर गाँव लौटे। घर में शगुन के गीत आरम्भ हुए। हमारा दिल रोता था। हम ऊपर से हँसते थे, गाते थे, शगुन मनाते थे। शगुन के गीत उठनेवाली रात के सवेरे पिताजी ने मिरजई पहनी, पगड़ी सम्भाली, हाथ में छड़ी ली और जिले की कचहरी जाने के लिए चले रेलगाड़ी पकड़ने। महाजन के साथ पचास बीघा खेतों की लिखा-पढ़ी जो करनी थी।

पचास बीघा खेत !

पचास बीघा खेत, सोना उगलनेवाले।

धान देनेवाले, गेहूँ देनेवाले !!!

माँ देहरी पर खड़ी चुपचाप पिताजी को जाते हुए देखती रही और तब तक खड़ी रही, जब तक वे दूर रेलवे लाइन के किनारे-किनारे जाते-जाते ओझल न हो गये। जब वह देहरी पर से हटी, तो उसकी दोनों आँखों से आँसुओं के तार बँध गये थे, मौन लकीर, रेल की लीक-जैसी।

जब मैं पूरबवाले घर के भीतर गया, तो ऊँची 'डेहरी' के पीछे कमला गुमसुम बैठी थी, अकेली। मुझे देखते ही वह एकाएक बोल उठी, "भइया, यह क्या हो गया ?" और फूट-फूटकर रोने लगी। मैंने उसे सँभाला, पर मैं ज्यों-ज्यों उसे ढाढ़स बँधाने की कोशिश करता, त्यों-त्यों वह और फूट-फूटकर रोती रही। उसकी सिसकियाँ बँध गयीं। मैं उसके सिर पर हाथ फेरता, पीठ को सहलाता, पर वह थी कि अपना सिर मेरी छाती में गाड़ कर बस रोती ही चली जाती। मेरी समझ में कुछ भी नहीं आता था कि मैं क्या करूँ ? मेरी आँखों से भीं आँसू बह चले।

रो-धोकर बड़ी देर के बाद हम भाई-बहन अलग हुए। मैंने उसे पूरा विश्वास दिलाया कि मैं ढेर-से रुपये कमाकर सब खेत वापिस कर लूँगा। पर, उसको शायद मेरी बात पर कुछ खास यकीन न आया। तब उसका ध्यान दूसरी ओर आकर्षित करने के लिए मैंने जीजाजी की चर्चा उठायी, उनकी तारीफ के पुल बाँध दिये। पर, उसने उधर कोई चाव न दिखाया।

दिन-भर घर में भयानक उदासी छायी रही। प्रभात और अरुण चकित थे। उनकी समझ में नहीं आता था कि यह सब क्या हो रहा है। पर, माँ को उदास देखकर ये भी उदास थे। मेरे घर में ऐसी गमी छायी थी, जैसे कोई घर में सब से अधिक कमानेवाले व्यक्ति की लाश फूँकने गया हो।

और यह मनः स्थिति कुछ अन्यथा भी तो न थी। हमारी सम्पत्ति की लाश फुँकने गयी थी। हमारी इज्जत का जनाजा निकला था, हमारी जीविका का गला घोंटा जा रहा था।

साँझ हुई, दीप जले। 'संझा' गाने के लिए गाँव की पाँच बूढ़ियाँ आँगन में जमा हुईं और मन्द-मन्द स्वर में कुल के देवताओं और पितरों का आह्वान-गीत गाने लगीं। ऐसी ही घड़ी में मैंने देखा, एक छाया धीरे-धीरे आकर द्वार पर की खुली कोठरी में घुस गयी। मैं समझ गया, यह कौन था। पर, इतनी देर क्यों हुई ? गाड़ी तो शाम के पाँच ही बजे आ जाती हैं। मैंने कुछ कहा नहीं, छेड़ा नहीं, पास नहीं गया। पर माँ को कैसे मालूम हो गया ? उसने बुलाकर धीरे से पूछा, "प्रकाश, तेरे पिताजी आये हैं क्या ?"

मैंने धीरे से कहा, "हाँ।"

वह और कुछ नहीं बोली। चुपचाप चली गयी। मैं भी भारी कदम उठाता हुआ बैलों की 'चरन' पर जाकर बैठ गया। बड़ी देर तक अँधेरे में चुपचाप बैठा रहा। एक अजीब घुटन महसूस कर रहा था। जैसे दम घुट जायेगा और प्राण निकल जायेंगे।

बूढ़ियों का दल सांध्य-गीत गाकर आहिस्ते-आहिस्ते चला गया। फिर घर में मौन छा गया। फिर भी पिताजी कोठरी में से निकले नहीं। माँ ने फिर पूछा नहीं।

पिताजी इस प्रकार अँधेरे में क्यों चले गये ? वे बाहर आते क्यों नहीं ? शायद सब कुछ समाप्त हो गया !

लगता था—एक-एक क्षण, एक-एक पल पाँव तोड़कर बैठे हैं, टलने का नाम नही लेते । समय की गति रुक गयी थी ।

धीरे-धीरे दो घड़ी रात गयी और धरती आकाश में फैली काली चादर को हटाकर कृष्णपक्ष के दूज का चन्द्रमा आकाश में निकला । अब दो-दो, तीन-तीन के दल में हँसती, खिलखिलाती, बातें करती नयी लड़कियों का दल आँगन में जमा होने लगा । ब्याह का अवसर था, खुशी की बात थी, उम्र का तकाजा था, वे बात-बात पर खिलखिलाकर हँस पड़तीं, हँसी की फुलझड़ी आँगन में लग जाती जो आग की चिनगारी बनकर हमारा हृदय दग्ध करती । हृदय, जिसमें बवण्डर उठा था, भयानक लहरें उठती-गिरती थीं और जिन्दगी की नाव थपेड़े खा रही थी ।

जब ये लड़कियाँ एक दर्जन से ऊपर हो गयीं तो इन्होंने अपना सामूहिक गीत आरम्भ किया ।

अपने सलोने 'पिया' को सोने की थाली में 'जेवन' परोसने से आरम्भ कर वे उस सीमा तक पहुँचने लगीं जब रसिया हाट में बाट में,गली में, घाट पर, हर कहीं छेड़ने लगा, बाँहें मरोड़ने लगा, आँखें लड़ाने लगा । वे खुद ही गातीं और खुद ही, खिलखिलाकर हँस पड़तीं । रात की धुँधली चाँदनी में कोई शरम की बात तो थी नहीं—सामूहिक गान में व्यक्ति का लाज घुल गया था । वे जो चाहे गातीं, सब कुछ गातीं, मन की धुआँस निकालतीं ।

मेरे लिए इन सब में रस लेना असम्भव हो चला । मैं चुपचाप उठा और नदी-तीर की ओर चल पड़ा । चमकती-दहकती चाँदनी में बालू की रेत चाँदी के महीन बुरादे-सी लगती । दिन की गर्मी धीरे-धीरे शान्त होने लगी और हवा में ठण्ढी सिहरन का आभास मिलने लगा ।

अपने तपते तन-मन को इस चाँदनी में धोकर शीतल करने के लिए मैं जो एक बार चला, तो चलता ही गया । अपने घर का सर्वनाश छाती में दबाये मैं चल रहा था; भला मुझे कहाँ शान्ति मिलती !

मुझे कुछ पता न चला, बालू की रेत पर ठण्ढे जल के कुण्ड के किनारे जाने मैं कितनी देर घूमता रहा। घूमते-घूमते थक गया तो एक डोंगी में बैठ गया जो घाट पर बँधी थी। मन को कहीं चैन न थी, तनिक भी शान्ति न थी। सारी जायदाद खो चुकी थी; हम गले तक कर्ज में डूब चुके थे। कुछ भी तो सूझता न था, क्या करें?

उस एकान्त बेला में एक श्वेतवसना स्त्री बड़ी तेजी से डग भरती कुण्ड की ओर जाती दिखायी दी। मैं चकित हो गया, यह कौन है?

परी?

चुड़ैल?

पर गाँव की ओर से तो कोई गाँव की ही औरत हो सकती है। भला यह भी कोई नहाने की बेला है? और यदि नहाना ही होता तो भला इतनी तेजी से कदम उठाने की क्या ज़रूरत?

मैं चुपचाप देखने लगा क्या होता है? डोंगीं के पेटे में छिप गया। मन में भय का भी संचार हुआ। ऊपर देखा तो चाँद सिर पर दहक रहा था। सोचा, आधी रात बीत चुकी है।

साँस थामे चुपचाप देखने लगा—होता क्या है।

वह स्त्री आगे-पीछे, दायें-बायें कुछ भी नहीं देखती थी। बस, अंधाधुंध घाट की ओर चली जा रही थी।

जब वह जल के बिल्कुल पास पहुँच गयी तो रुकी। मैंने सोचा, अब नहाने की साड़ी वगैरह सूखी रेत पर रखकर जल में घुसेगी। पर उसने ऐसा कुछ भी न किया। वह तो केवल रुकी। मुड़कर उसने पीछे की ओर देखा, गाँव की ओर—और फिर···

मैं डोंगी में और भी दुबक कर बैठ गया कारण मैं उसके बहुत पास था, वह गाँव की कोई 'लजाए' औरत होगी तो मुझे देखकर लजा जायगी शायद बुरी तरह डर भी जाय! क्या पता?

मैं साँस रोके डोंगी में छिपा बैठा एकटक उसकी ओर ताक रहा था, देखें अब होता क्या है?

क्या·······?

वह घाट पर रुकी, मुड़ी और गाँव की ओर छन-भर ताककर दोनों हाथ उठाकर उसने हाथ जोड़ प्रणाम किया।

प्रणाम किया, पर क्यों ?

उसने धोती न रखी, गंगाजली न रखी, कुछ भी तो रखा नहीं रेती पर। फिर ?

जल की ओर मुड़कर वह वड़ी तेजी से दौड़ी और छपाक से कुण्ड के जल में कूद पड़ी।

मैं एकाएक चौंका, पर चौंककर शांत हो गया। क्या पता, नहाकर गीले कपड़ों में ही घर जाय।

नहाकर गीले कपड़ों में घर······

पर उसने प्रणाम क्यों किया ? किसको ?

कुल-देवता ? ग्राम-देवता ? देखूँ तो !

मैं सांस थामे उत्सुकता से ताकने लगा, देखें अव क्या होता है। पर, यह क्या ? वह तो डूब-उतरा रही है ? गहरे जल में ! कहीं डूबने तो नहीं आयीं है ? मेरा माथा ठनका। अब क्या हो ? कहीं जाकर पकड़ूँ और वह कुछ और समझे ? हल्ला करे ? गाँव-भर आधी रात को जुट जाय, तब क्या होगा ?

मगर यह है कौन ?

इसी उधेड़-बुन में परेशान हो रहा था कि उसकी आवाज़ सुनायी दी—घुटती हुई आवाज़, "माई रे।"

यह ध्वनि मेरी पहचानी लगी। मैं चौंका और आव देखा न ताव, तुरन्त छलांग मारकर डोंगी के छोर पर से कुण्ड के जल में धम्म से कूद पड़ा। कुण्ड की तलेटी को छूकर जब ऊपर आया, तो उस स्त्री का कहीं पता न था।

वह कहाँ गयी ? मैं चकराया। कोई भूत-प्रेत मुझे बहका तो नहीं रहा था ? तब तो मरे। अरे बाप रे बाप !

मैं तैरने लगा। अपने को जल की सतह पर थामे हुए चारों ओर दृष्टि दौड़ा रहा था, देखने के लिए कहाँ जल के बुलबुले उठ रहें हैं। इतने में वह ऊपर आयी। फिर वही आवाज़—"माईऽऽ रे।"

मैं लपका। पर जब तक पास जाऊँ, वह फिर डूब गयी। मैंने डुबकी मारी। अंधाधुंध खोजा, पर वह फिर हाथ न लगी। मैं घबराया। जल के ऊपर आकर बड़ी घबराहट के साथ उसका इन्तजार करने लगा। इतने में बुलबुले नजर आये। वहाँ जाकर टिक गया और ज्योंही जल के बाहर उसका सिर निकला मैंने उसके लम्बे-लम्बे बाल पकड़ लिये। वह तो मेरे तन में ऐसा चिमटी कि बस मैं भी वहीं डूबकर समाप्त हो जाता।

मैंने झटका देकर उसका एक हाथ छुड़ाया और उसके बाल एक हाथ से पकड़े हुए दूसरे से तैरने लगा। वह बहुत दूर तो जा न सकी थी, हम तुरन्त थाह पानी में आ गये। वह मुझसे बुरी तरह चिपट पड़ी।

प्राणों का इतना मोह !

प्राण, जिन्हें वह त्यागने गयी थी।

जीवन कितना अलभ्य है ? कितना अमोल !

वह अचेत हो गयी थी। उसे उठाकर मैंने पास ही डोंगी के छोर पर लगे पटरों पर लिटाया। जब चाँदनी में मैंने उसका मुँह देखा, तो मुझे काठ मार गया। यह तो मेरे ही घर की इज्जत डूब रही थी।

मैंने जल्दी-जल्दी उसका कंधा पकड़कर हिलाया-डुलाया और पेट के बल लिटाया। पानी वह काफी पी गयी थी। थोड़ी-सी कै हुई। फिर डोंगी के छोर पर ले जाकर मैंने उसका सिर नीचे लटका दिया, पीठ पर हल्के-से दबाव के साथ हाथ फेरने लगा। फिर तो क्या था, धीरे-धीरे ढेर-सा पानी उसके पेट से निकला। अब वह होश में आयी।

ज्योंही मैंने उसे सीधा कर डोंगी में लिटाया, उसने आँखें खोल दीं। आँखें खोलते ही उसके मुँह से निकला—"भइयाऽऽ। और वह मुझसे लिपट गयी, फूट-फूटकर रोने लगी। मैं भी रोने लगा। हम दोनों खूब रोये, खूब रोये।

रो-धोकर रात में पिछले पहर हम दोनों भाई-बहन घर लौटे मौन, चुपचाप।

इस घटना का साक्षी केवल चाँद था।

केवल चाँद।

●●●

जब लगन में केवल एक सप्ताह रह गया, तो घर की व्यस्तता बढ़ गयी, काम-काज बढ़ गया। अनजाने एक उत्साह की लहर छा गयी। माँ जेवनार के लिए रुचिकर भोज्य पदार्थ इकट्ठा करने में इतनी व्यस्त हो गयी कि ग़म का नामो-निशान तक कहीं न रहा। ग्राम्य-नारियों और बालाओं का समूह घर-आँगन में भरा रहता। ये सब चावल बीनतीं, दाल बीनतीं, गेहूँ के कंकड़ चुनतीं, धुआँस पीसतीं, अचार-चटनी के आम छीलतीं, इमली फोड़तीं, मसाले कूटतीं····इस तरह के कामों का कोई अन्त न था। उनके हाथ चलते, पाँव चलते, जुबान चलती। रह-रहकर किसी-न-किसी गीत की कड़ी हवा में गूँज उठती। बीच-बीच में हँसी और ठहाके से घर-आँगन भर उठता।

हमारी नाइन भी माँ से कम व्यस्त न थी। वह अड़ोस-पड़ोस बुलावे देती, हल्दी पीसती, बुकवा बनाती, धोतियाँ रंगती, साड़ियाँ रंगती, आम के पल्लव लाती, कलश सजाती—छोटे-बड़े अन्तहीन काम—बेचारी को पलभर की फुर्सत नहीं; वह है भी तो बड़ी हँसोड़। कार्यव्यस्तता में भी एक रस होता है। संभवतः साहित्य के नौ रसों से ऊपर का रस—कर्तृत्व-निष्पादन का रस।

क्या कहा जाए, इस रस को। यह तो वही रस है, जो जीवन के हर क्षण को अर्थदान करता है। वह सम्भवतः यही रस बरसाती कार्यव्यस्त थी।

इन दिनों पिताजी के चेहरे से भी उदासी भाग गयी, जो कि उसका स्थान खुशी ने नहीं लिया। मुझे लगा, भगवान शंकर गले में जहर उतारकर नीलकण्ठ योगी हो गये।

वे आकाश की तरह विशाल और समुद्र की भाँति गम्भीर थे। उनकी मनो-दशा का ठीक-ठीक थाह लगाना मेरे लिए असम्भव था। उन्होंने अपने दिल की कसक कहीं भी, किसी हालत में जाहिर नहीं की थी। इसलिए मैं चकित था, पर निश्चिन्त नहीं। उनको लेकर मैं बराबर चौकन्ना रहता और साया की तरह उनके पीछे-पीछे लगा रहता। क्या पता, कब क्या कर बैठे?

हम बाप-बेटे साथ-साथ हाट-बाजार जाते, शहर जाते, सौदा करते। मेरे लिए तो यह एक प्रकार की ट्रेनिङ्ग ही थी। मैंने गहने-कपड़े से लेकर, नमक-मिर्च-मसाले तक की खरीद-फरोख्त सीखी। तम्बू, कनात, नाच, बाजा सब कुछ ठीक करने में पिताजी के साथ-साथ डोलता रहा।

मैं कमला की ओर से भी बिल्कुल निश्चिन्त नहीं था। मैंने उसके साथ-साथ बराबर लगे रहने का काम प्रभात पर सौंप दिया था गो कि कमला ने अपने कुल-देवता के सामने मेरे सिर पर हाथ रखकर शपथ ली थी कि फिर कुछ ऊटपटांग काम न कर बैठेगी। फिर भी मेरी दृष्टि बराबर उस पर रहती। मुझे जीजाजी की धरोहर जीजाजी को सौंपनी जो थी, उससे पहले अब चैन कहाँ?

हमारे छोटे मामा शादी से तीन-चार दिन पहले ही आ गये और उन्होंने बहुत-सा काम अपने जिम्मे ले लिया।

ज्यों-त्यों करके शादी का दिन भी आ ही गया। सात हाथी, पन्द्रह घोड़े, तीन ऊँट, सोलह बैलगाड़ियाँ और एक हजार आदमियों के लाव-लस्कर के साथ बारात पहुँच गयी। शादी बड़ी हँसी-खुशी और घूमधाम के साथ सम्पन्न हुई। हमारी परम्परा के अनुसार जेवनार बहुत उत्तम रहा। सब ने मुक्तकण्ठ से भूरि-भूरि प्रशंसा की। दान-दहेज को लेकर कोई बखेड़ा नहीं खड़ा हुआ। हमने हर अवसर पर वादे से कुछ अधिक ही दिया, कुछ अधिक ही किया। फिर कोई क्या मुँह खोलता!

मेरे इस सीधे-सादे आदमी ने एक बड़ा ही क्रान्तिकारी कदम उठा दिया। कन्या-दान के समय हाथ में हाथ लेते वक्त उन्होंने एकाएक कमला का घूँघट उठा दिया। पुरोहितजी चकित रह गये। मण्डप में लगभग सभी पुरुष चकित भाव से ताकने लगे, स्त्रियाँ भयभीत हो गयीं।

अब क्या हो?

सब पिताजी का मुँह ताकने लगे। पर जीजाजी तो मन्द-मन्द मुस्करा रहे थे। उनको मुस्कराते देखकर मैं भी मुस्कराया। कमला की सखियाँ खिल-खिलाकर जोर से हँस पड़ीं और उन्होंने गीत की नयी कड़ी आरम्भ की।

जीजाजी पहले तो अपने पिताजी की तनी भृकुटी देखकर घबराये, पर बाद को मुझे मुस्कराते देखकर वे भी मुस्करा दिये।

सिमटी, सकुची, चकित-सी कमला मारे लाज के गड़ गयी। नाइन ने झट से घूँघट खींचा पर पिताजी ने मना करते हुए कहा, "बस, अब घूँघट नहीं।"

मुझे आश्चर्य हुआ। पिताजी के इस रुख पर सभी अचम्भे में आ गये।

पुरानी रूढ़ियों की क़ड़ियाँ क्षण-भर में टूटकर धरती पर गिरीं।

सबेरा हुआ, 'ज्योनार' और 'मिलनी' के बाद बारात की विदाई की बारी आयी। कमला की विदाई करने का विचार न तो माँ का था और न बाबूजी का। मेरे घर शादी में विदाई सहती नहीं—ऐसी बात परम्परा से चली आ रही थी। पर, सबसे बड़ी अचरज की बात तो ये थी कि जीजाजी ने ही कमला की विदाई की बात उठायी और बात ही नहीं उठायी बल्कि हठ भी पकड़ लिया।

उनकी रात की करतूत को अभी सब भूले नहीं थे, इस नये प्रस्ताव से सभी दंग रह गये। पर, उनकी ठंढी ताकत को भला कौन समझता! मैं जानता था कि वे सन् बयालिस के सत्याग्रही और बागी दोनों थे।

मैं समझता सब कुछ था, पर बड़े बुजुर्गों के सामने भला क्या बोलता?

बात तो वे ठीक ही कह रहे थे शादी हुई, लड़की बहू बन गयी फिर वधू को वर के साथ जाने में क्या अड़चन?

पिताजी ने मेरी ओर देखा, जैसे मेरी सलाह जानना चाहते हों। वैसे वे मुझसे किसी मामले में सलाह नहीं किया करते थे, बल्कि सच तो यह है कि वे मुझे इस काबिल ही नहीं समझते थे।

मुझे इस नयी बात पर कुछ तो आश्चर्य हुआ और कुछ आशंका भी। मेरे मुँह खोलने से पहले ही लगा, जैसे उन्होंने मेरे मन की बात जान ली है। बोले, "प्रकाश, अपनी माँ से पूछकर देखो तो।"

मैंने भीतर जाकर माँ के सामने प्रस्ताव रखा पर माँ ने तो सारा आसमान ही सर पर उठा लिया। वो बार-बार यही कहती, अशगुन होगा। बाप-दादे से कभी ऐसा हुआ नहीं, अब होगा तो कुछ-न-कुछ जरूर बिगड़ेगा, शादी पर बिदाई

करने से मेरे घर पर गाज गिरेगी। मैं, कहती हूँ तुम लोग यह हठ छोड़ दो। मैं बेटी की बिदाई हर्गिज़ नहीं करूँगी, चाहे इधर की दुनिया उधर हो जाये।"

माँ का रुख देखकर टका-सा मुंह लिये मैं वापस आने लगा। आते समय कमला को पूरबवाले घर के दरवाजे से टिकी हुई खड़ी पाया। उसकी फटी-फ़टी आँखें देखकर ऐसा लगता था, जैसे फ़ाँसी पर चढ़नेवाले कैदी के गले की रस्सी टूट गयी हो और वो नीचे गिरकर दूसरी मजबूत रस्सी का इंतजार करता हो।

मैंने माँ का फैसला बाबूजी, जीजाजी, जीजाजी के पिता और अन्य बुजुर्गों को भी सुना दिया पर जीजाजी एक ही हठी जीव निकले। उन्होंने 'सविनय अवज्ञा' करने की ठान ली। यह जिच बड़ी देर तक चलती रही, अन्त में पिताजी शुभ-अशुभ का भार भगवान पर छोड़कर विमला क़ो विदा करने क़ो राजी हो गये।

गाँव में चर्चा होने लगी—"अजीब वर है, दान-दहेज के लिए तो मुंह नहीं खोलता, पर बहू के जाने की जिद्द पकड़े हैं। न लाज़ न हया। अरे बहू तो है तुम्हारी ही, तुमने समाज के सामने उसका हाथ पकड़ा है मगर ले ज़ाने की ऐसी भी जिद्द भला क्या।"

कमला की विदाई के फैसले की बात सुनते ही माँ पछाड़ खाकर गिर पड़ी और जोरों से रोने लगी। घर में कुहराम मच गया, सभी औरतें रोने-धोने लगीं। कमला की सखियों ने उसको धीरे-धीरे सजाया, पर कमला के मन को इतनी गहरी ठेस लगी थी कि उसमें रोने की ताव भी बाकी न थी। खैर रो-धोकर बारात और वर के साथ कमला भी विदा हो गयी।

इस घटना के बाद मेरे परिवार में एक घोर सन्नाटा छा गया। बाबुल का चमन वीरान हो गया। पर, विकल्प ही क्या था? प्राणों से प्यारी अपनी पुत्री शकुन्तला को भी तो महर्षि कण्व सदा-सदा के लिए अपने पास नहीं रख सके। ब्याह के बाद जनकनन्दिनी भला कितने क्षण जनकपुर में रही?

● ● ●

१०

शादी में मामाजी के साथ-साथ उनकी लड़की भी आयी थी—लीला। उम्र लगभग पन्द्रह वर्ष, रंग गोरा, शरीर भरा हुआ, आँखें बड़ी-बड़ी, हिरनी की आँखों को मात करनेवाली। वह हँसमुख और चञ्चल दोनों थी। माँ को तो 'बुआ-बुआ' करके उसने मुट्ठी में कर ही लिया था, प्रभात, अरुण वगैरह की भी वह लीडर बन बैठी थी। गांव की हमजोलियों पर वह बड़े ठाठ से शान बघारती।

मेरे चारों ओर कब चुपके-चुपके कुण्डली मारकर वह बैठ गयी, ब्याह के घूम-धड़ाके में मुझे कुछ पता तक न चला। मेरे निजी सारे काम कमला किया करती थी मगर, शादी के कारण वह तो बिल्कुल बेबस व निरीह हो गयी थी, हाथ-पाँव समेटकर पड़ी रहती। मैं जब भी पुकारता 'कमला', कि लीला हाजिर हो जाती। हर काम में लीला, हर बात में लीला। मेरी तौलिया कहाँ है? लीला बताती, मेरी कलम किधर गयी, लीला जानती, मेरे बटन कहाँ खोये, लीला खोजती। एक अज्ञात लता मेरे चारों ओर लिपटती जा रही थी। चुपके-चुपके, अनजाने वह मेरी प्राइवेट सेक्रेटरी बन गयी। मैं जब भी पुकारता, 'लीला···?' तो बड़ी सुरीली आवाज में बोलती 'भइया····!' और कभी बोलती 'आऽई-ई!' एक संगीतमय मधुर स्वर घर-आँगन में गूँज उठता। माँ की भतीजी थी इसलिए भी उसका रोब बहुत था, भला कौन नहीं मानता उसका रोब?

कमला के खाने-पीने, नहाने, कपड़ा बदलने का भी भार उसने अपने ऊपर ले लिया। कमला का तो किसी भी भोजन-वस्त्र में जी ही नहीं लगता, बड़ी मिन्नत-सिफ़ारिश के बाद जरा-सा दूध पीती या एक नेवाला अन्न ग्रहण करती। मैं शादी-ब्याह में व्यस्त था। इतनी फुर्सत किसे थी जो उसका हर घड़ी ध्यान रखे, इतने सब्र से काम ले। लीला ने वह भी काम अपने ऊपर ले लिया। और एक मैं था, जो मुझे हर पल कमला की खबर रखनी थी इसलिए इसके मूल में भी लीला जा बैठी। वह हर घड़ी, हर पल का समाचार देती। कब 'जीजी' ने स्नान किया,

कब 'जीजी' ने कपड़े बदले, कब 'जीजी' ने भोजन किया, कब 'जीजी' बैठकर टुकुर-टुकुर नदी-तीर की ओर ताकती रहीं। इस प्रकार किस अनजान घड़ी में लीला ने अपनी दोनों मुट्ठियों में हम दोनों भाई-बहन को बाँध लिया, कुछ पता न चला।

कमला को तो जीजाजी, लीला की मुट्ठी खोलकर ले भागे। पर मैं ?

मैं लीला की मुट्ठी में कशमकश महसूस करने लगा। कमला के जाने के बाद से तो उसी ने एक प्रकार से मेरा घर सँभाल लिया। माँ के पास रात-दिन रोने-धोने के सिवा कोई काम न था। बहुत क़सम देकर लीला उसे कभी-कभार कुछ खिला पाती। मेरे छोटे-छोटे भाई-बहनों की भी देखभाल उसे करनी पड़ती। मैं पिताजी की ओर से निश्चिन्त न था। मैं उनको सँभालता, मुझे लीला सँभालती।

पर, लीला की आदतें बड़ी अजीब-सी थीं, उसे तकल्लुफ़ तो नाम को नहीं था। जब आयी, तो पहले ही दिन मुझसे इतनी खुलकर मिली जैसे हम जन्म से ही एक दूसरे को जानते हों। मामा की लायी हुई मिठाइयों में से दो लड्डू हाथ में लिये आयी और एक मेरी ओर बढ़ाती हुई बोली, "लो भइया, देखो तो कैसे हैं ये लड्डू ?"

और मेरे लेने का इन्तजार किये वगैर उसने दूसरा लड्डू अपने मुँह में डालकर काट लिया। मुझे आज भी याद हैं उसकी लंबी गोरी गोल-गोल फैली हुई बांह मेरी ओर, जिसके छोर पर हथेली में पीला लड्डू चमक रहा था, दूसरे हाथ से वह दूसरा लड्डू अपने दाँतों से काट रही थी। मैं तो ताकता रह गया। वह बड़ी वेतकल्लुफी से बोली, "पीले तो हैं पर मेवे कम हैं।"

मुझे ताकता देख हँसती हुई पुनः बोली, "मुँह क्या ताकते हो ? लो खाओ ना भइया ?"

और मेरे हाथ में लेने से पहले ही उसने मुँह में पकड़ा दिया। मैंने चकित-सा आधा लड्डू काट लिया। हम खाते-खाते हँस पड़े। शेष भी उसने अपने हाथ से मुझे खिलाया, पर प्यार और नज़ाकत के साथ नहीं, वल्कि यूँ जैसे बछड़े के मुँह में घास ठूँसते हों।

एक दिन दोपहरी में मैं सो रहा था, तो ऐसा महसूस हुआ कि बिल्ली पूंछ से मेरे गाल सहला गयी। एक-दो बार हाथ से गाल मसला, मगर कुछ न मिला। आखिरी बार झटककर हाथ मारा, तो क्या देखता हूँ कि लीला की चोटी हाथ में है और वह खिलखिलाकर हँस रही है।

"क्या कर रही थी?" मैंने पूछा

"तुमको जगा रही थी भइया।"

"क्यों?' कहते-कहते मैंने गुस्से में उसकी चोटी खींची।

"बुआ ने बुलाया है। चोटी छोड़ दो, नहीं तो मैं चिल्ला पड़ूंगी।"

"यूँ ही जगाते हैं?"

"और नहीं तो क्या हाथ पकड़कर जगाती? कोई मेरी शामत आयी थी।"

उसकी जिरह पर मैं मुस्करा पड़ा। वह भी 'ही-ही-ही' करके हँसने लगी और मेरी उँगलियाँ पकड़कर खींचती हुई बोली, "अब चलो न। बुआ बाजार की लिस्ट बनवायेंगी।"

"सो तो तू भी बना सकती थी।"

पर बुआ मेरी सलाह तो नहीं लेंगी, नहीं तो सारा घर अचार-चटनी के मसाले से भर जायगा।"

हम मुस्कराए और चल दिये।

अभी उस दिन कमला के गहने-कपड़े गाँव की औरतें देख रही थीं, कुछ बैठी थीं, कुछ खड़ी थीं। माँ एक-एक करके दिखा रही थी। जाने लीला कब चुपके से आयी व मेरे पीछे घुटनों के बल खड़ी होकर अपने दोनों हाथ उसवे पीछे से मेरे दोनों कंधों पर रख दिये। मैंने देखा कि गाँव की कुछ औरतों ने आँखें फाड़कर चकित भाव से ताका। मैं बड़े असमंजस में पड़ गया। लीला कोई बच्ची नहीं, उसने पन्द्रहवां पार कर सोलहवें में कदम रखा है। कुछ सोच-समझ-कर मैंने ऐसा पोज़ किया, जैसे कुछ हुआ ही न हो। जैसे न मैंने कुछ देखा है, न कुछ जाना ही है। माँ एक-एक कर साड़ियां दिखाती रही, उनके नाम, गुण, मूल्य बताती रही। फिर इसी प्रकार गहने भी दिखाये।

किन्तु, हर घड़ी मैं लीला की गरम साँसों का एहसाह करता रहा, कभी-कभी उसकी धड़कती छाती का भी एहसास होता, पर मैं चुपचाप यह अत्याचार सहता रहा। मैं भी कोई बच्चा नहीं था, मेरे तन में विजलियाँ दौड़ने लगतीं, नसों में तनाव आ जाता, फ़िर भी मैं मौन रहा। और यह एक लीला थी, जो अपनी निराली हरकतों से बाज़ न आती।

लीला को इसमें क्या मिलता था?

क्या उसके तन-मन में भी······?

एक माँ है कि हर चीज ऊँचे 'डेहरी' पर रख देगी। सोचती है, बच्चे पहुँचेंगे नहीं, सामान निरापद रहेगा। उस दिन छाता उतारना हुआ तो मैं असमंजस में पड़ गया। लीला ने दो-तीन बार उछल-कूद मचायी। लपककर हाथ से पकड़ने की कोशिश की, पर सब बेकार। जब मेरे हाथ न पहुँच सके, तो उसके भला क्या पहुँचते। मैंने इधर-उधर ताका।

लीला ने पूछा, "क्या खोजते हो भइया?"

"अरुण को देखता हूँ····।"

"क्यों?"

मिल जाय तो उसे कंधे पर बिठाकर डेहरी पर चढ़ा दूँ। वह छाता उतार लायगा।"

"उँह, तुम बैठो न?" वह तपाक से बोली।

मैंने कुछ समझा नहीं, संभवतः बैठ गया। इतने में मेरे कंधों पर अपने दोनों पाँव रखकर वह खड़ी हो गयी और लम्बी बाँह फैलाकर उसने छाता पकड़ लिया।

मैं उसकी शरारत पर झुंझला गया और उसे मजा चखाने के लिए उठने लगा तब तक वह मेरी पीठ पर छाता समेत झूल गयी। हम दोनों हाँफने लगे। उसने पूछा, "यदि मैं गिर जाती तो?"

"यही तो मैं चाहता था?" कहकर मैं मुस्कराया।

"बड़ी नेक नीयत है तुम्हारी भइया।" बड़ी-बड़ी आँखें फैल गयीं कान के छोर तक। फिर बोलती गयी, "और चोट लग जाती तो?"

एक दिन दोपहरी में मैं सो रहा था, तो ऐसा महसूस हुआ कि बिल्ली पूंछ से मेरे गाल सहला गयी। एक-दो बार हाथ से गाल मसला, मगर कुछ न मिला। आखिरी बार झटककर हाथ मारा, तो क्या देखता हूँ कि लीला की चोटी हाथ में है और वह खिलखिलाकर हँस रही है।

"क्या कर रही थी?" मैंने पूछा

"तुमको जगा रही थी भइया।"

"क्यों?' कहते-कहते मैंने गुस्से में उसकी चोटी खींची।

"बुआ ने बुलाया है। चोटी छोड़ दो, नहीं तो मैं चिल्ला पड़ूँगी।"

"यूँ ही जगाते हैं?"

"और नहीं तो क्या हाथ पकड़कर जगाती? कोई मेरी शामत आयी थी।"

उसकी जिरह पर मैं मुस्करा पड़ा। वह भी 'ही-ही-ही' करके हँसने लगी और मेरी उँगलियाँ पकड़कर खींचती हुई बोली, "अब चलो न। बुआ बाजार की लिस्ट बनवायेंगी।"

"सो तो तू भी बना सकती थी।"

पर बुआ मेरी सलाह तो नहीं लेंगी, नहीं तो सारा घर अचार-चटनी के मसाले से भर जायगा।"

हम मुस्कराए और चल दिये।

अभी उस दिन कमला के गहने-कपड़े गाँव की औरतें देख रही थीं, कुछ बैठी थीं, कुछ खड़ी थीं। माँ एक-एक करके दिखा रही थी। जाने लीला कब चुपके से आयी व मेरे पीछे घुटनों के बल खड़ी होकर अपने दोनों हाथ उसने पीछे से मेरे दोनों कंधों पर रख दिये। मैंने देखा कि गाँव की कुछ औरतों ने आँखें फाड़कर चकित भाव से ताका। मैं बड़े असमंजस में पड़ गया। लीला कोई बच्ची नहीं, उसने पन्द्रहवाँ पार कर सोलहवें में कदम रखा है। कुछ सोच-समझकर मैंने ऐसा पोज़ किया, जैसे कुछ हुआ ही न हो। जैसे न मैंने कुछ देखा है, न कुछ जाना ही है। माँ एक-एक कर साड़ियाँ दिखाती रही, उनके नाम, गुण, मूल्य बताती रही। फिर इसी प्रकार गहने भी दिखाये।

किन्तु, हर घड़ी मैं लीला की गरम साँसों का एहसाह करता रहा, कभी-कभी उसकी धड़कती छाती का भी एहसास होता, पर मैं चुपचाप यह अत्याचार सहता रहा। मैं भी कोई बच्चा नहीं था, मेरे तन में बिजलियाँ दौड़ने लगतीं, नसों में तनाव आ जाता, फ़िर भी मैं मौन रहा। और यह एक लीला थी, जो अपनी निराली हरकतों से बाज़ न आती।

लीला को इसमें क्या मिलता था ?

क्या उसके तन-मन में भी······?

एक माँ है कि हर चीज ऊँचे 'डेहरी' पर रख देगी। सोचती है, बच्चे पहुँचेगे नहीं, सामान निरापद रहेगा। उस दिन छाता उतारना हुआ तो मैं असमंजस में पड़ गया। लीला ने दो-तीन बार उछल-कूद मचायी। लपककर हाथ से पकड़ने की कोशिश की, पर सब बेकार। जब मेरे हाथ न पहुँच सके, तो उसके भला क्या पहुँचते। मैंने इधर-उधर ताका।

लीला ने पूछा, "क्या खोजते हो भइया ?"

"अरुण को देखता हूँ····।"

"क्यों ?"

मिल जाय तो उसे कंधे पर बिठाकर डेहरी पर चढ़ा दूँ। वह छाता उतार लायगा।"

"उँह, तुम बैठो न ?" वह तपाक से बोली।

मैंने कुछ समझा नहीं, संभवतः बैठ गया। इतने में मेरे कंधों पर अपने दोनों पाँव रखकर वह खड़ी हो गयी और लम्बी बाँह फैलाकर उसने छाता पकड़ लिया।

मैं उसकी शरारत पर झुंझला गया और उसे मजा चखाने के लिए उठने लगा तब तक वह मेरी पीठ पर छाता समेत झूल गयी। हम दोनों हाँफने लगे। उसने पूछा, "यदि मैं गिर जाती तो ?"

"यही तो मैं चाहता था ?" कहकर मैं मुस्कराया।

"बड़ी नेक नीयत है तुम्हारी भइया।" बड़ी-बड़ी आँखें फैल गयीं कान के छोर तक। फिर बोलती गयी, "और चोट लग जाती तो ?"

"अच्छा होता फिर ऐसी शरारत न करती ।"

वह बड़े अचरज के साथ बोली, "शरारत ? कैसी शरारत ? तुम्हारे लिए छाता उतार दिया तो यह शरारत हो गयी ? जाने कब तक अरुण की राह ताकते ?"

"तो क्या यही तरीका था उतारने का ?"

"और क्या तुम मेरे कंधों पर चढ़ते ? तब तो मेरा कचूमर ही निकल जाता ।"

हम दोनों ठठाकर हँस पड़े । मैंने कहा, "मैं तुझे किसी और तरकीब से ऊपर चढ़ा देता ।"

"कैसे ? लो फिर से कोशिश कर देखो ।"

और उसने अपनी दोनों बाँह दोनों साइड में उठा दी जैसे मुझे किसी बच्चे को गोद में उठाना हो । एक बार तो जी में आया कि पतली कमर को दोनों मुट्ठी में पकड़कर उठा दूँ ऊपर; पर मैंने अपने शरारती मन को एक झिड़की दी । मुस्कराता, लजाता हुआ बोला, "छिः ।"

लीला अपनी बाँहें गिराती हुई बोली, "तुम्हें तो पसीना छूट रहा है, लो, बताशे खाओ और ठण्डा जल पियो, मैं अभी लायी ।"

वह कमरे से बाहर गयी । मैं सोचता रहा यह अजीब लड़की है, इसे यह एहसास क्यों नहीं होता कि वह सीमा से आगे बढ़ रही है, जवान हो रही है । बचपन से कब तक लिपटी रहेगी यह ?

इतने में वह कुछ बताशे और एक गिलास जल लेकर आयी । दो बताशे मुझे दे, दो अपने मुँह में एक-एक कर डाल गयी । मैंने गिलास का पानी पिया तो क्या हुआ, गिलास का जल स्वयं पी गयी । बताशे खाते-खाते मैंने पूछा, "कोई तुमको मेरे कंधे पर चढ़े देख लेता तो ?"

"तो क्या होता ? मैं कोई चोरी कर रही थी ?"

"नहीं लीला, तुम अब कोई बच्ची नहीं रही जो... ।"

"और नहीं तो क्या मैं बूढ़ी हो गयी । बुढ़िया माई !" कहती हुई वह खिलखिलाकर हँस पड़ी ।

"बुढ़िया माई, लाओ बुढ़िया माई बच्चे का पसीना पोंछ दे।"

और, उसने झट से अपने आँचल का छोर पकड़कर मेरे गाल का पसीना पोंछना शुरू कर दिया। जब वह मेरा पसीना पोंछ रही थी मेरे सामने खड़ी थी, तब भी मैंने देखा उसके मचलते शबाब को। सोचा, वह बच्ची नहीं, और भरी दोपहरी में इस बला से जान छुड़ाकर भागा।

× × ×

कमला की शादी के पहले और बाद भी रीता के पत्र दार्जिलिंग से आते रहे। उनमें बहुधा विभिन्न स्थानों पर जाने की चर्चा होती और प्रोफेसर साहब का ज़िक्र रहता। पर एक दिन मीता का एक बड़ा-सा पत्र आ धमका जिसमें दिनेश के भी दार्जिलिंग में साथ होने तथा साथ-साथ घूमने की चर्चा थी। टाइगर हिल्स में सूर्योदय देखने के लिए वे सभी कैसे रात को साथ-साथ गये, सवेरे दर्शन किया, ढेर-सी फोटो ली, वे लौटे सब कुछ था। मैं जल-भुनकर खाक हो गया, जाने क्यों ?

दूसरे खत में रेस में, फ्लावर शो में जाने की चर्चा थी। हरेक में दिनेश के साथ होने का ज़िक्र था। मेरी खीझ बढ़ चली। एक दिन मीता का पत्र पढ़ रहा था, भृकुटी तनती जा रही थी कि लीला जाने कहाँ से धमक पड़ी। आते-आते ही पूछा, "किसका खत है भइया ? बड़े नाराज़ नज़र आते हो"

"एक दोस्त का है !"

"मैं भी देखूँ ?"

"नहीं।"

इतने में उसने अपनी लम्बी चोटी का छोर झुककर पत्र पर ही गिरा दिया। मेरा पढ़ना बन्द हो गया। मैं छेड़छाड़ के मूड में नहीं था। मैंने चुपचाप चोटी हटा दी। अबकी उसने दोनों चोटियों का छोर ख़त पर लटका दिया दो लटकती नागिन-सी व मेरे मुंह के पास झुककर मेरे सिर पर हाथ फेरती हुई बोली, "यूँ नाराज नहीं होते भइया। क्या बात हो गयी ?"

मुझे यह हमदर्दी बुरी लगी। मैंने पकड़कर चोटी झट से खींच दी। वह मेरी गोद में ढेर हो गयी। चीखी—ऊँऽऽ, पर छूटते ही वह मेरे हाथ से खत झपटकर ले भागी। वह तो एक चंट थी, मैं कहाँ-कहाँ उसका पीछा करता।

मैं मन मारे बैठा रहा। थोड़ी देर में पढ़-पढ़ाकर खत लौटाने आयी। बोली, "इसमें गुस्सा करने की तो कोई बात नहीं है भइया ?"

"तू क्या जाने ?"

"ये रीता-मीता कौन है ? तुम्हारी सहेलियाँ ?"

मुझे हँसी आ गयी। मैंने कहा, "नहीं दोस्त।"

"दोस्त ? लड़के की दोस्त लड़कियाँ ?"

मैं भी हँसते-हँसते बोला, "नहीं, लड़के की सहेलियाँ लड़कियाँ !"

फिर तो एक दूसरे का हाथ पकड़कर हँसते-हँसते हम लोट-पोट हो गये। फिर वह बोली, "तुम्हारे साथ पढ़ती होगी।"

"नहीं तो।"

"दैय्या रे, तब कैसे…? ओह जान गयी ? वह तर्जनी उठाकर चिढ़ाती हुई बोली।"

मैंने पूछा, "क्या जान गयी ?"

"नहीं बताती !"

और तब वह एक अजीब भेद-भरी हँसी हँसने लगी। मैंने फिर पूछा, "क्या जान गयी ?"

किन्तु उसने कुछ न कहा। बस हँसती रही। चोटी पकड़कर खींचा, तो वही 'ही-ही-ही,' 'खी-खी-खी,' पर बतायी नहीं। चोटी छुड़ाकर भाग गयी।

कुछ दिनों बाद एक मोटा लिफ़ाफ़ा आया। खोलकर देखा तो मीता ने ढेर-सी फोटो भेजी थी उसकी, दिनेश की, रीता की। दार्जिलिंग में ली गयी फोटो।

मेरे हाथ काँपने लगे। हृदय धड़कने लगा। कहीं दिनेश ने दोनों के कन्धों पर हाथ रखकर तसवीर खिचायी थी, कहीं दोनों की कमर में हाथ डालकर। कहीं रीता की बाँह में बाँह डालकर, कहीं मीता की चोटीं खींचते हुए। तरह-तरह के स्थान, तरह-तरह के पोज़।

मैं इन तसवीरों को देखने में खिन्न मन से तल्लीन था कि जाने कहाँ से बला आकर मेरे पीछे खड़ी हो गयी। दोनों हाथ मेरे दोनों कन्धों पर रखते हुए उसने

दो चोटियों का छोर मेरे दोनों कान पर ब्रश की तरह फेर दिया। मैंने सारी तसवीरें पलट दी। वह बोली, "भइया, दिखाओ ना!"

"नहीं!"

"तुम्हारी सहेलियों की तसवीरें हैं न?"

"नहीं!"

"नहीं क्या?" कहती-कहती वह मेरी पीठ पर झुक गयी। उसकी दोनों चोटियाँ टूटी माला की तरह मेरे कन्धे से छाती पर लटक गयीं। एकदम मेरे मुंह के पास मुंह लाकर धीरे से बोली, "तुम्हारी सहेलियों के साथ एक 'सहेला' भी है।"

यही तो बात थी।

मुझे गुस्सा चढ़ गया। चिढ़ा तो था ही, मैंने ज़ोर का एक तमाचा जड़ दिया लीला के झुके गाल पर। वह भौंचक्की रह गयी। फटी-फटी आँखें लिये केवल इतना बोली, "भइया!" और अपने कपोल सहलाती धीरे-धीरे चुपचाप घर के भीतर चली गयी। मुझे अपनी नादानी पर बड़ा अफसोस हुआ। मुझे इतनी बड़ी लड़की को मारना नहीं चाहिए था जो चार दिन की मेहमान थी। पर अब क्या हो? गलती तो अब हो ही चुकी थी।

लीला दिन-भर मेरे सामने नहीं आयी। दिन-भर बोली नहीं। जब भी मैंने आवाज़ लगायी, 'लीला' तो उसने प्रभात या अरुण को खोजकर मेरे सामने भेज दिया। घर-आँगन सूना हो गया। उसकी सुरीली मधुर 'भइया!' की गूँज बन्द हो गयी। मैं भीतर-ही-भीतर छटपटाने लगा। बार-बार मन में प्रश्न उठता—लीला को कैसे मनाऊँ? कैसे मनाऊँ लीला को!

साँझ हुई, अँधेरा छाया, तारे छिटके। मैंने आवाज लगायी—लीला? कोई उत्तर न मिला। चुपचाप मैंने घर-आंगन में खोजा। लीला का कुछ भी पता न चला। अरुण, प्रभात से पूछा, पर वे भी कुछ न बता सके। विमल, विमला को लेकर कहीं गाँव में किसी के घर चली गयी, सो भी बात न थी। विमल और विमला दोनों घर में थीं। माँ के साथ मंदिर गयी, पर माँ तो घर में थी। फिर लीला कहाँ गयी? कब गयी?

लीला कहाँ गयी ?

मैं एकदम से डर गया। कमला का नदी में छलांग लगानेवाला दुखद अनुभव अभी भी ताज़ा था। मन में आशंका भरे आम की बगिया में गया, इधर-उधर खोजा, कहीं पता न चला। बगिया पारकर मंदिर पर गया। शिवालय के सामने चबूतरे पर कुछ लोग हा-हा-ही-ही, कर रहे गप-शप लड़ा रहे थे। मंदिर के पीछे गया, क्या पता वहाँ छिपी हो। फिर निराश होना पड़ा। बाबा की ऊँची समाधि पर चढ़ गया। वह वहाँ भी न मिली। बड़ी डरावनी जगह है। अँधेरे में चारों ओर बड़े-बड़े पेड़ प्रेत-जैसे लगते हैं। समाधि का चक्कर मारने लगा, तो पीछे एक पेड़ के तने को पीठ से टेके हुई कोई स्त्री बैठी जान पड़ी। चुपके से पास जाकर पहचानने की कोशिश की। तारों की हल्की-हल्की रोशनी में जब पहचान लिया तो बोला, "लीला······लीला······लीला ?"

"ऊऽ।"

"चलो, घर चलें।"

"मैं तुम्हारे घर नहीं जाती।"

"फिर कहाँ जाओगी ?"

"भट्ठी में। तुमसे मतलब ?"

"अच्छा मेरे घर न सही, अपनी बुआ के घर तो चलोगी। आओ, चलें।" कहते-कहते मैंने उसकी दाहिनी कलाई पकड़ी तो उसने झटककर छुड़ा लिया। बोली, "खबरदार, जो मेरी कलाई पकड़ी।"

"अजी गुस्सा मुझ पर उतारो। मुझसे ग़लती हो गयी, पर घर तो चलो।" कहते-कहते मैंने फिर उसकी बाँह पकड़ी तो खड़ी हो गयी। पर, बाँह फिर से झटककर छुड़ाती हुई बोली, "तुम जाओ ना अपनी रीता-मीता की बाँह पकड़ो, मुझसे क्या ?"

आँखों से अंगारे बरस रहे थे। मैं पश्चात्ताप की भट्ठी में गला जा रहा था। मुझसे कुछ भी नहीं सूझ रहा था कि उसे कैसे मनाऊँ। इसी कशमकश में मैंने अपने दोनों हाथ से उसकी दोनों कलाइयाँ पकड़ी व उनको उठाकर अपने गाल

पर टिकाते हुए कहा, "ले, जी-भर के चाहे जितने थप्पड़ लगा ले, लीला, अपनी छाती ठण्ढी कर लो।"

"छिः छिः !"

इस बार वह अपनी बाँहें छुड़ा न सकी। आँखों में गंगा-जमुना भर आयीं। उसका सिर मेरी छाती पर जा टिका और वह सिसक-सिसककर रोने लगी। मेरी भी आँखें भर आयीं। गर्मियों की तारों-भरी रात में समाधि के पीछे के अँधेरे में हम दो प्राणी जाने क़ितनी देर तक रोते-सिसकते रहे। जब मन का सारा गुबार आँखों की राह निकल गया और मेरी कमीज छाती पर एकदम भींग गयी, तो हम दोनों एक दूसरे का हाथ थामे घर आये। घर क़ी देहरी पर पहुँचकर मैंने उसका हाथ छोड़ दिया और पूछा, "अब तो कहीं नहीं जाओगी ?"

"क्यों नहीं ? तुम फिर गुस्सा करोगे, तो फिर जाऊँगी !"

उसकी आवाज़ में एक चटक थी, एक स्वाभाविकता। हम दोनों मुस्कराए। मैंने पूछा, "इस बार कहाँ जाओगी ?"

वहाँ ! तारों के देश में !"

क़हते-कहते उसने मुँह उठाया, उँगली उठायी, मुस्करायी और मैंने आकाश में चमकते तारों क़ो उसके होंठों के बीच चमकते देखा। कहा, "धत् पगली।" फिर उसके बायें गाल पर एक़ हल्की चपत लगा दी।

वह चहककर बोली, "फिर वही बात ! नहीं मानोगें ?" और हँसती हुई घर के भीतर भाग गयी।

मैं ताकता रह गया। बड़ी रात तक सोचता रहा। बड़ी अजीब लड़की है। कभी अन्तर्मुखी और कभी बहिर्मुखी।

● ● ●

११

कमला के चले जाने से घर तो सूना हो ही गया था, अब अरुण और प्रभात भी कमला के यहाँ कलेवे पर चले गये। लीला के घर से मामाजी का आदमी आया कि वह भी अपने गाँव जाय। स्कूल खुलने के दिन पास आ रहे थे। पर कुछ तो लीला की अपने ढील से, कुछ माँ के सहारे के लिए पिताजी ने आदमी को लौटा दिया।

पिताजी कमला की शादी के बाद से फिर ठीक से न उठते, न खाते, न पीते। जाने क्या सोचा करते थे। हमारी छह बैलों की खेती थी—तीन हल, तीन हलवाहे। दो बैलों को तो जीजाजी के पिताजी दहेज में ले गये। एक प्रकार से जबर्दस्ती वे बैल गये, पर जीजाजी के पिताजी ने जब स्वयं बैलों की जोड़ी खूंटे पर से खोल ली, तो कुछ भी कहने-सुनने को न रहा। पिताजी तो कुछ बोले ही नहीं। बस मन्द-मन्द मुस्कराते रहे बड़ी-बड़ी मूँछों के बीच से।

और अब बैलों की चरन पर बैठकर बहुधा डूबते हुए सूरज को घंटों ताक़ा करते। जब धीरे-धीरे अँधेरा घिर आता, तब भी वहीं चुपचाप बैठे रहते। बोलते नहीं कुछ। गर्मियों में बहुधा शाम को गंगा के किनारे बसे गाँवों के छप्परपोश मकानों में कहीं-न-कहीं आग लग जाती। आकाश का एक कोना लाल हो जाता—रक्तवर्ण। कभी-कभी लपटें भी दिखायी देतीं, कालीमाई की लपलपाती जीभ की तरह। वे उसे भी मौन निहारा करते।

पता नहीं, बाबूजी को क्या हो गया था?

गर्मियों के तपन और मनहूसी-भरे दिन चींटी की चाल-से रेंगते चलते। दोपहरी इतनी लम्बी हो जाती कि काटे न कटती। मिट्टी के घर में चटाई पर हम लेटते। सोते-सोते भी थक जाते। उन धूमिल, धूल-धूसरित, धधकते-तपते दिनों में जब चिड़िया भी जल की तलाश में कहीं अंतर्धान हो जाती, केवल एक चिड़िया मेरे घर में चहकती रहती। और वह थी—लीला।

लीला कभी शरवत बनाकर लाती, कभी खरबूजे तराश कर लाती, कभी आम, कभी लीची भर लाती। और केवल लाती ही नहीं, हठ भी करती, भइया एक फाँक और, एक लीची और, एक आम और। इन्कार करो, तो हाथ में ले मुँह में ठूँसने को तैयार हो जाती। जवर्दस्ती। जब वह इतने चाव से भइया को खिलाती, तो भइया भला कैसे उसे खिलाये विना खा लेता? मैं भी आरजू करता, मिन्नतें करता, मनौवल करता—लीला एक फाँक और, एक लीची और, एक आम और। वह मानती नहीं। मुँह में देने पर मुँह बन्द कर लेती, दाँत भींच लेती, बात छीना-झपटी जबर्दस्ती पर आ जाती। हाथापाई तो हमारी लगभग रोज ही हो जाती। हमारे हाथ छुड़ाने के लिए वह मुझे गुदगुदाती—काँख में, पेट में, गले में, कहाँ नहीं?

उत्तर में मैं भी गुदगुदाता–काँख में, पेट में, गले में, हर कहीं, कहाँ नहीं? वह 'ही-ही-ही' 'खी-खी-खी' हँसती रहती और मारे हँसी और गुदगुदाहट के वेंत-सी लचक जाती, दोहरी हो जाती मेरे ऊपर। कभी-कभी मैं उसकी कलाई पकड़कर झट से उमेठता, तो बिल्कुल उलट जाती कमर के ऊपर से। वह भी शमाँ देखने ही लायक होती। मारे हँसी के हमारी आँखों में आँसू आ जाते, तब कहीं यह तीसरे पहर का जलपान समाप्त होता।

ऐसे ही दिनों में एक दिन रीता का एक खत आया कि वे लोग दार्जिलिंग से लौट रहे हैं, लखनऊ के लिए। मुझे बुलाया था छपरा स्टेशन पर मिलने के लिए, यदि असुविधा न हो, तो।

मैं सोच में पड़ गया। जाऊँ या न जाऊँ? कुढ़ा भी। सोचने लगा—क्यों जाऊँ? क्यों?

दिनेश तो उनके साथ है ही, मेरा क्या काम? लीला ने मेरी दुविधा देखी। पूछा, "क्या बात है भइया?"

मैं कुछ भी न बोला। वही पूछती रही, "किसका खत है?"

मैं मौन रहा।

उसने रुककर पूछा, "रीता जीजी का?"

"हाँ।"

"क्या लिखा है ?"

कल दार्जिलिंग से लौट रही है। छपरा स्टेशन पर बुलाया है मिलने को।"

"तो इसमें इतना सोचने की क्या बात है भला, चलो, कल चलेंगे।"

"तू भी चलेगी ?"

"और नहीं तो क्या ? मैं रीता जीजी को नहीं देखूँगी ?"

"नहीं, मैं नहीं जाऊँगा।"

"वाह, चलोगे कैसे नहीं ? तुमको जरूर चलना होगा। बोलो चलोगे ना ? मेरे अच्छे भइया।"

"अच्छा अभी सोचूँगा फिर....।"

"नहीं, इसमें सोचना क्या ?" कहते-कहते उसने मेरा कंधा पकड़कर झकझोरा, फिर कहा, "बोलो चलोगे ना ? बोल दो 'हाँ' बोलो ना।"

अरे वह तो गले में बाँह डालकर झूलने लगी। मैंने उसके हाथ पकड़कर जबर्दस्ती छुड़ाते हुए कहा "अच्छा चलेंगे।"

"हाँ, ठीक।"

वह चहक उठी और हँसती हुई घर के भीतर भाग गयी। मैंने वह सारा दिन एक विचित्र उधेड़बुन में काटा। प्रश्न था,—जाऊँ ? या न जाऊँ ? कुछ भी तो सूझता न था। दिनेश के साथ लिये गये दार्जिलिंग के वे सारे चित्र आँखों में घूमने लगे। तीसरा पहर काटे न कहता था और एक लीला थी कि उसकी खुशी का ठिकाना न था। वह हवा में तैर रही थी, बात-बात में छेड़ती थी और कदम-कदम पर मेरी मनहूसी और मायूसी का मजाक उड़ाती थी।

ज्यों-त्यों करके शाम हुई। धीरे-धीरे रात आयी और गयी भी। रात-भर मुझे नींद न आयी। सबेरे की ठण्ढी हवा के झोंको के बीच मीठी नींद ने आ घेरा और मैं दिन-चढ़े तक सोता रहा। आँखें खुली तब, जब मेरी बिल्ली ने अपनी पूँछ से मेरे गले और गरदन को सहलाया।

गुस्से में आँखें खोलकर जो मैंने देखा, तो बोली, "उठो ना गाड़ी पकड़नी है न ?" और खिलखिलाकर हँसती हुई जरा हट गयी।

मैंने धीरे से कहा, "बड़ी प्यारी नींद आयी थी, तू ने खराब कर दी।"

"क्यों रीता जीजी के सपने आ रहे थे क्या ?"

"नहीं तेरे !" मुझे शरारत सूझी।

"धत् !" कहकर वह भाग गयी।

मैं उठकर जल्दी-जल्दी तैयार हुआ और लीला को लेकर स्टेशन की ओर भागा। गाड़ी नौ बजे थी, सिगनल डाउन हो चुका था। छूटने के डर से हमने दौड़ना शुरू किया। लीला पहले तो दौड़ी, मगर फिर पिछड़ने लगी। अब हमने एक दूसरे का हाथ पकड़कर दौड़ लगायी। हाँफ़ने लगे थककर। कभी तेज चलते, कभी दुलकी मारते, कभी दौड़ते। बीच-बीच में हँसते जाते, मगर स्टेशन तक पहुँचते-पहुँचते हमारी हँसी गायब हो गयी। रह गयी केवल मुस्कान ! हमारी छातियाँ धौंकनी की तरह उठतीं-गिरतीं। हम बुरी तरह हाँफ रहे थे।

मैंने दौड़कर दो टिकट लिये। इतने में गाड़ी आ गयी और हम दोनों उछल कर चढ़ गये। गाड़ी चल दी।

अब हमारी जान-में-जान आयी। हम पसीने से तर थे। लीला ने अपनी आदत के मुताबिक आँचल से अपने मुँह का पसीना पोंछा और झट से सामने खड़ी हो मेरा पसीना पोंछने लगी आँचल से। मैंने कहा, "साड़ी खराब कर दी ना ? गन्दी !"

"होने दो भइया। कौन रोज़-रोज़ पसीना पोंछना है ?"

"क्यों, जब तक पसीना निकलेगा, तब तक !"

"वह चहक उठी। बोली, "तुम गुस्सा तो न होओगे ?"

"नहीं।"

"तो रही।" कहकर उसने मेरे हाथ पर हाथ मारा। मगर मैंने पकड़ लिया और खींचकर उसे सीट पर बिठाल दिया।

यह एक संयोग ही तो था कि वह डब्बा एकदम खाली था।

उसमें केवल हमी दो थे—लीला और मैं। उत्तर से ठण्ढी-ठण्ढी हवा लगी, तो मन में शीतलता छाने लगी। लीला बैठती हुई बोली, "कितना अच्छा लगता है !"

"क्यों ?"

"केवल हम दो हैं !"

"अच्छा ?"

"तुम को मेरे साथ चलना अच्छा लगता है लीला ?"

"बहुत अच्छा !" वह मुंह बनाकर बोली, जैसे किसी सपने में खोयी हो।

"क्यों ?"

"मैं क्या जानूँ !"

दूसरा स्टेशन आया। हम मारे प्यास के तड़प रहे थे। लीला बोली, "देखो अभी-अभी जो पानी नहीं मिलेगा, तो अगले पुल पर में गंगा में छलांग लगा दूँगी। समझे।"

"बाप रे ! कहते-कहते मैंने उसे पकड़ा जैसे अभी छलांग लगा देगी। हँसते-हँसते उसने अपना हाथ एक झटके में छुड़ा लिया। मैं पानी के लिए इधर-उधर नजर दौड़ा ही रहा था कि एक लड़का सुराही में पानी लिये नजर आया। यह उसका पेशा ही जान पड़ता था, क्योंकि तीन गिलास पानी के लिए उसने हमसे तीन आने वसूले।

लीला हर स्टेशन पर मूंगफलीवाले से मूँगफली, चनेवाले से चने, केलेवाले से केले, यानी कुछ-न-कुछ जरूर लेती। अगले स्टेशन तक खाती-खिलाती और ऊधम मचाती चलती।

राम-राम करते छपरा आ गया। उसके लम्बे प्लेटफार्म और ऊँचे पुल को पारकर हम रेस्ट्राँ में गये। खाना खाये। लीला कुछ चकित-सी थी। मेज-कुर्सी पर खाना खाने का शायद पहला मौका था। रीता की ट्रेन आने में घंटे-भर की देर थी। इसलिए वह घूम-घूमकर स्टेशन का हर कमरा देखती, एक-एक चीज देखती। व मुझसे जिज्ञासा प्रकट करती और मुझे सब बतलाना पड़ता। लेकिन जब मैं उसकी जिज्ञासाओं से थक गया, तो मैंने कहा,

"अच्छा चल लीला, तुझे आइसक्रीम खिलाऊँ।"

"वह क्या बला है ?" उसने मचलकर पूछा।

"चल देख तो सही, तेरी-जैसी ही बला है।"

हम आइसक्रीमवाले की दुकान की ओर बढ़े। चलते-चलते लीला ने मेरा हाथ पकड़ लिया और रानियों की तरह रोब से चलने लगी। स्टेशन के लोग आँखें फाड़-फाड़कर ताकते, मगर लीला को तो जैसे न कोई भय हो, न परवाह।

पूरी आइसक्रीम का कप उसने एक साथ ही मुँह में डाल लिया और जब बहुत ठण्ढी लगी, तो 'दैया री' कहकर चिल्ला पड़ी।

उसका चीखना और उछलना देखकर आसपासवाले अकचका उठे। कोई-कोई हँस भी पड़ा।

वह मुंह से आइसक्रीम को फेंकती हुई बोली, "मेरे तो दांत गल जाएँगे। तुमने बताया क्यों नहीं।"

मैं उसकी नादानी पर हँसे जा रहा था। बोला, "नहीं री, गलेगा नहीं। तू ने एक साथ ही ढेर-सा जो डाल दिया। ये मोतीचूर के लड्डू थोड़े ही हैं। यूँ कर। देख...।"

मैंने लकड़ी की चम्मच पर जरा-सी लेकर जीभ पर रखते हुए दिखाया।

"ओ माँ, तो यूँ न कहो कि यह जीभ चटकारने के लिए है।"

"और क्या ?"

उसने इस बार जरा-सी लेकर जीभ पर रक्खी, मजा आ गया। दाँतों को बचाकर जीभ से कण्ठ तक ले जाना। यही तो कला थी ! बोली, "तो यूँ न कहो कि दाँतों के पहरे से चुराकर जीभ गले में उतार देती है ! चोर !"

वह हँसी ? मैं भी हँसा। अब हम दोनों आहिस्ते-आहिस्ते आइसक्रीम खाते और बड़ी देर तक उसका स्वाद लेते रहे।

लीला बोली, "इसे घर ले चलेंगे भइया, सबको छकाएँगे !"

"वहाँ तक तो यह गल जायगी।"

"छिः छिः, तब तो मजा नहीं आयगा।"

इतने में रीता की ट्रेन स्टेशन में घुसने लगी। हम दोनों भागे, उसे ढूंढने।

मैंने दूर से ही मीता को एक डब्बे के दरवाजे पर खड़ी देखा। बस, उधर तेजी से लपका। लीला बेतहाशा मेरे पीछे-पीछे भागने लगी और एक घूंघट काढ़े दुलहिन से टकरा गयी। प्लेटफार्म पर गिरते-गिरते बची। दुलहिन ने

घूँघट के भीतर से ही उसे दो-चार मीठी-मीठी गालियाँ सुनायीं। उसके दुलहे ने आँखें फाड़कर लीला को देखा। लीला की बड़ी-बड़ी आँखें भय और घबराहट में और भी फैलकर बड़ी-बड़ी हो गयीं।

मेरे पहुँचते ही मीता बड़े जोर से मिली। उसने बड़े तपाक से हाथ मिलाया और पूछा, "प्रकाशबाबू, आप आये क्यों नहीं दार्जिलिंग ? खूब मजे आये मगर जीजी का तो बिल्कुल मन नहीं लगा।"

मैंने मार्क किया, लीला उसे घूर-घूरकर देख रही थीं। यह सुनकर चौंकी। मैंने बात को मोड़ देने के लिए कहा, "अच्छा-अच्छा ले, मेरी कज़िन से मिल, लीला……मीता……रीता की….।"

उसने आगे बढ़कर लीला से हाथ मिलाना चाहा। मगर, लीला भला हाथ मिलाना क्या जाने ? उसने मीता का हाथ पकड़ लिया, पर छोड़ा नहीं, पूछा, "रीता जीजी कहाँ हैं ?"

"रीता जीजी ?" चकित हो मीता बोली, "वो रहीं।"

"लीला ने मीता का हाथ छोड़ दिया और रीता के पास सीधी चली गयी। दोनों जाने क्या गुटगूँ करने लगीं। मैं प्रोफेसर साहब से बातें करने लगा। मीता, दिनेश से कुछ फुसफुसाने लगी। कुछ क्षण यूँ ही बीते। मैंने कमला की शादी का ब्यौरा दिया। प्रोफेसर साहब ने कुछ दार्जिलिंग की बातें की, फिर बोले, "अच्छा जाओ, रीता से भी मिल लो। वह कौन है ?"

"मेरी कज़िन, लीला।"

"मेरे पास भेजो तो !"

मैं रीता के पास चला गया, मगर यह क्या, वह तो गाड़ी से उतरकर प्लेटफार्म पर एक ओर लीला से बातें कर रही थी। दिनेश और मीता का कहीं पता न था। मैंने छूटते ही लीला से कहा, "लीला, जा प्रोफ़ेसर साहब को प्रणाम कर, रीता के पिताजी हैं।"

वह चली गयी। मैंने देखा; प्रोफ़ेसर साहब ने उसे आशीष देते हुए हाथ पकड़कर सीट पर बिठाया और बातें करने लगे। अब कहीं मुझे फुर्सत

हुई रीता से बातें करने के लिए। मगर उससे क्या बातें करूँ, कुछ सूझता ही न था।

हमने एक दूसरे को देखा, फिर दूसरी ओर ताकने लगे, जैसे दो रूठे हुए पंछी हों। पंछी प्यासे थे, मगर मारे मान के चोंच पानी में डालने को तैयार न थे। अन्त में मैंने ही मौन तोड़ा, "हो गयी सैर दार्जिलिंग की ?"

"जहाँ मुर्गा बाँग न देगा, क्या वहाँ सवेरा न होगा ?"

"मुर्गा बाँग किसे दे ?"

"नयी मुर्गी को !" रीता ने कटाक्ष किया। उसका निशाना लीला थी।

मैं जल मरा। बहुत तीखी लगी उसकी बात। बस बोल ही तो गया, "मुर्गा हलाल करना तो तुम्हें खूब आता है, कितने किये हैं हलाल अब तक ?"

अभी तो मुर्गा ही छिटककर भाग गया है और मैं खोजती फिरती हूँ।"

हम दोनों मुस्करा पड़े। सुलह हो गयी। उसने पूछा, "क्या लड़े ही जाओगे ?"

"कौन लड़ता है ?"

"मैं !"

हम फिर मुस्कराए। उसने मेरा हाथ पकड़ लिया और उसकी उँगलियाँ मरोड़ने लगी। मैंने कहा, "सुना, मीता क्या कहती थी।"

"ठीक कहती थी।"

"और यह दिनेश ?" मैंने पूछा।

"और यह लीला ?" प्रश्न का उत्तर उसने प्रश्न ही में दिया।

फिर हमारी तन गयी, छिड़ गयी ! हमारे तेवर फिर तने। वह बोली, "कब समझोगे ?"

"जब समझाओगी !" मैंने कहा।

"अच्छा, लखनऊ आना तो समझा दूँगी अब गाड़ी छूट रही है।" कहते-कहते वह चल दी। मैंने कहा, "और मैं प्यासा ही....।"

"छिः, कोई सुन लेगा तो...." वह गाड़ी में भीतर जा बैठी। मैंने दिनेश से भी हाथ मिलाया। मीता और प्रो० साहब से भी। प्रोफेसर साहब पूछ बैठे, "लखनऊ कब तक आओगे ?"

"दो सप्ताह बाद।"

गाड़ी चल दी। मैं टकटक ताकता रहा, रीता को, जो इधर ही देख रही थी एकटक। फिर उसकी सूरत बहुत-सी सूरतों से टकराने लगी और लुकती-छिपती भी सामने आ-आ जाने लगी। जब गाड़ी प्लेटफार्म से काफी आगे सरक गयी, तो मुझे लीला का ध्यान आया।

और लीला एक लैम्पपोस्ट के सहारे खड़ी-खड़ी एकटक ताक रही थी, भागती हुई ट्रेन को।

लीला वहाँ कब से खड़ी थी, उसने क्या-क्या देखा, क्या-क्या सुना।

जब हम दोनों थोड़ी देर बाद दूसरी ट्रेन से अपने घर लौटने लगे, तो लीला की सारी चुहल खो चुकी थी। वह लड़की से युवती हो गयी थी, ऐसा लगता था। मुझसे तो वह सीधी बोली तक नहीं। मगर घर से थोड़ी दूर पर ही हमें रोने-धोने की आवाज सुनायी दी।

क्या हो गया मेरे घर ?

●●●

१२

हृदय-गति एकाएक रुक जाने के कारण मेरे पिताजी का देहावसान हो गया। सारे घर में कुहराम मच गया। मेरे ऊपर पहाड़ टूटकर गिर गया। अपनी गैरहाज़िरी के लिए मैं कभी भी अपने को माफ न कर सका। आज तक नहीं।

माँ ने पिताजी की अचानक मृत्यु का कारण कमला की शादी या विदाई माना। कोई उसे रोकता भी कैसे ? वह तो पहले से ही ऐसा कहती थी। मैं श्राद्ध-संस्कार पूरा करके लखनऊ आ गया।

महाशोक की बेला में लीला बिल्कुल बदल गयी। वह चंचल किशोरी से प्रौढ़ युवती बन बैठी। उसने हर काम सँभाला, हर व्यक्ति को सँभाला, मेरी माँ को, मेरी बहनों को, मेरे भाइयों को, यहाँ तक कि मुझको भी।

मैं अचरज में आ गया।

श्राद्ध के बाद वह अपने घर चली गयी। उसका स्कूल खुल गया था। जाते-जाते खूब रोयी, बेहद रोयी वह, सिसक-सिसककर, फूट-फूटकर। इतना मोह ? किसका ? क्यों ? जाते-जाते मेरी एक फोटो माँगकर लेती गयी। केवल इतना पूछा, "कभी कभी याद करोगे लीला को ?"

"कभी कभी ? बस ?"

"हूँऽऽ····।"

"बराबर याद करूँगा तुझे।"

"चलो, झूठे कहीं के !" बोली और भाग गयी मेरे हाथ से फोटो झपटकर। जिस दिन सवेरे उसे जाना था, मैं नहाने चला गया गंगातीर। बड़ी देर तक वह राह तकती रही, पर मैं न आया, तो वह हारकर आदमी के साथ चल दी।

युग-युग तेरे पंथ निहारूँ।

× × ×

चार्टर्ड एकाउंटेण्ट होने के लिए प्रीमियम मैंने जमा कर दिया। चार हजार रुपये, जो तीन वर्ष में सौ रुपये मासिक करके मुझे लौटाये जाते। अब सवाल उठा मेरे खर्चा का। मैंने सोचा—जो सौ रुपये तनख्वाह के रूप में मिलेंगे, उन्हें तो घर भेज दूँगा घर खर्च के लिए। रहा मैं, सो कहीं-न-कहीं कोई काम कर लूँगा।

इस मामले में प्रोफेसर लाल ने मेरी बड़ी मदद की। एक छोटी-सी फर्म में पार्ट टाइम काम दिलवा दिये, सौ रुपये महीने का। थोड़ी देर के लिए ऐसा लगा कि मेरी सारी समस्याएँ हल हो गयीं। मगर व्यस्तता बेहद बढ़ गयी।

सबेरे-सबेरे उठकर थोड़ा-सा अध्ययन करता, फिर आफिस। शाम को छह बजे छूटता, तो पार्ट टाइम काम पर जाता फिर रात के नौ-दस बजे से पहले न आता।

जिन्दगी एक कोल्हू में जुत गयी।

गोल-गोल चक्कर। गोल-गोल।

आँखों पर पट्टी बाँधकर!

एक़ दिन प्रोफेसर लाल ने मेरे रहने-सहने के बारे में पूछताछ की। मैंने बता दिया, ठीक हूँ, साथियों के साथ एक लॉज में रहता हूँ। पर, वे माने नहीं। उन्होंने मुझे अपने साथ रहने पर मजबूर किया। मैंने इन्कार कर दिया, जाने क्यों?

शायद मेरे अहंभाव को कहीं ठेस लग रही थी। मैं अपने मामलों को सुलझाने में सहायता जरूर चाहता था, मगर दया की भीख नहीं चाहता था। भला मुफ्त में किसी के बंगले में रहना दया नहीं थी तो क्या थी?

मैं उनका कौन था, क्या लगता था?

अपने लॉज में मुझे मालूम हुआ कि कोई लड़की आकर मेरे तथा मेरे कमरे के बारे में पूछताछ कर रही थी। भला यह कौन होगी?

कुछेक दिन बाद एक शाम को जो मैं रीता से मिलने गया तो बातों-बातों में ही बोली, "जनाब तो ईद के चाँद हो रहे हैं।"

"क्यों जी?"

"वाह, हफ्तों जनाब का पता ही नहीं चलता।"

"लीजिए, हूँ तो सामने। सजा दे डालिए जो जी में आये।"

"जो जी में आये?" वह चहककर बोली।

"जी हाँ, जो जी में आये। मर्द आदमी हूँ, जुबान देकर हारनेवाला नहीं।"

"आजन्म कैद।"

"आजन्म कैद? कैसी कैद?"

"मेरी!"

और मुस्कान थी जो आँखों से उछलकर गालों पर फैल गयी। मैं भी मुस्कराया। उसका हाथ अपने हाथ में लेते हुए बोला, "रीता, कैदी तो तुम्हारा हूँ ही। पर भागता कहाँ हूँ जो इस बाँध की जरूरत पड़ी?"

"नहीं, तुम्हारा कोई भरोसा नही। तुम्हें मेरी आँखों के सामने रहना होगा, बराबर!" वह आँखों में शरारत भरकर बोली।

"यानी ?" मैं कुछ भी न समझा।

"यानी तुमको यहीं पर रहना होगा, मेरे घर। मैं अपनी धरोहर सँभालकर अपने पास रखना चाहती हूँ।"

"फिर तो गले में एक पट्टा भी बाँध दो।"

"पट्टा ? लो।" कहती-कहती रीता ने अपनी दोनों बाँहें मेरे गले में डाल दीं।

ऐसा पहले कभी न हुआ था। मैं घबरा उठा। रीता को यह क्या हो गया। क्या पागलपन है ? उसके दोनों हाथ पकड़कर हटाते हुए मैंने कहा, "तुम्हारी तबीयत ठीक नहीं रीता। तुम्हें आराम की जरूरत है।"

"देखो, मेरी तबीयत ठीक है, बहाने मत बनाओ। तुमको यहाँ रहना ही होगा।"

"यह तो असम्भव है। ऐसा हर्गिज नहीं हो सकता।" कहते-कहते मैं जाने का उपक्रम करने लगा, तो वह बोली; "मेरा मरा मुंह देखो जो कल से यहाँ आकर न रहने लगो। हाँ ऽ ऽ········हाँ ऽ ऽ।"

मैं सकते में आ गया। उसकी आँखों में गंगा-जमुनी छलक पड़ी। पाँव रुके। उसका हाथ अपने हाथ में लेते हुए मैंने कहा, "अच्छा, मेरी बुलबुल, अब तो चहक दो।"

आँसुओं के बीच उसने एक मोहक मुस्कान बिखेर दी। मैं निहाल हो गया। मुस्करा पड़ा। मारे लाज के उसने अपना सिर मेरी छाती पर टिका लिया। मैंने उसे अनजाने बाँहों में भर लिया और वह कसती गयी, कसती गयी। कब छोड़कर भाग गया, कुछ याद नहीं।

दूसरे दिन सवेरे मैं सरोसामान के साथ प्रोफेसर लाल के साथ रहने आ गया।

प्रो० लाल के साथ ?

या·······रीता के साथ !

कुछ काम से, कुछ वहाने से, मैं वरावर कोठी के बाहर रहता, सूरज निकलने से लेकर नैपाली पहरेदार की लाठी की टेक तक। एलार्म घड़ी की टन-टन के साथ पाँच बजे सबेरे उठता, नहा-धोकर कपड़े वदल छह वजते-बजते बँगले से बाहर हो जाता। सारे दिन काम करता, बाहर ही चाय लेता, नाश्ता करता, लंच खाता। शाम की चाय छह बजे पीकर पार्ट टाइम काम पर जाता। वहाँ से नौ वजे तक छूटता, तो लॉज में दोस्तों के यहाँ जम जाता। कुछ पढ़ता, कुछ गप्पें मारता। वहीं भोजन कर रात के बारह वजे तक वापस आता।

मेरी गति-विधि का पता वँगले के चौकीदार को छोड़कर और किसी को न था। मेरे इस रवैये से प्रोफेसर लाल नाराज़ हुए, पर कुछ बोले नहीं। रीता तो बेहद नाराज़ हो गयी।

एक दिन दवे पाँव लगभग साढ़े ग्यारह बजे लौटा तो रीता को ड्राइंग रूम में एक मैगज़ीन उलटते-पलटते देखकर चकित रह गया।

आखिर चोर पकड़ा गया। पाँव की आहट पाकर वह बिना सिर उठाये बोली, "कौन ? चौकीदार देखो कोई चोर तो नहीं।"

"चोर ?" मैं धीरे से बोला।

"हाँ चोर !" उसने सिर उठाया।

"क्या चुराया है मैंने तुम्हारा ?"

"क्या चुराया है ?.... अपने दिल से पूछो ना ?"

आँखें मिलीं, फिर नत हुईं। गङ्गा-जमुनी बह चली। मैं स्तब्ध मौन खड़ा रहा। इतने में बूढ़ा बावर्ची आया। बोला, "बिटिया रानी, खाना लगाएँ ?"

मुझे तो काटो तो खून नहीं। सोचने लगा—हे भगवान, रीता का यह व्रत कितने दिन से चल रहा है ?

"साहब से पूछो न ? मुझसे क्या पूछते हो ?"

बावर्ची ने मेरी ओर ताका। मैंने धीमे स्वर में कहा, "लगाओ।"

वह चला गया। मैं एक सोफे पर बैठ गया। कमरे में गीला मौन छाया रहा।

बावर्ची ने लौटकर सूचना दी कि सब तैयार है। मैं उठा। रीता से बोला, "चलो।"

वह आगे-आगे मैं पीछे-पीछे। रात के सन्नाटे को चीरते हम दोनों दबे पाँव डाइनिंग रूम में पहुँचे। वहाँ दो प्लेटें लगी देखकर मैं चकित रह गया। बोला, "मैं तो खाना···।"

"खा चुकी हूँ बाबा। मेरे लिए क्यों···।"

तीनों एक साथ ही मुस्करा पड़े। तनाव घटा। सुलह के आसार नजर आये। हम चुपचाप खाना खाने बैठ गये। मैं तो सचमुच खाना खाकर आया था, झूठ-मूठ कुतरता रहा। परसने के दरम्यान बावर्ची बोला, "बिटिया रानी यूँ ही रोज आपकी राह देखा करती हैं, ग्यारह बजने पर सोने चली जाती हैं बिना खाये।"

मैं चकित रह गया। अपराध की गुरुता महसूस हुई। रीता तुरंत बोली, "इतना झूठ न बोलो बाबा····।"

कि नरक में भी जगह न मिलें, यही न बिटियारानी।" बावर्ची बोल गया, "सो तो अपनी बिटिया रानी का खाना पकाने के लिए धर्मराज मुझे नरक से बुला भेजेगा स्वर्ग में।"

हम हँसे। बूढ़े की बात बेजोड़ थी। रीता कटकर रह गयी। मेरे लगभग कुछ भी न खाने पर रीता की आँखों में उलहना भर आया, मगर वह बोली कुछ भी नहीं। मैं अपनी करतूत पर स्वयं बेहद लज्जित था।

इस चाबुक का असर हुआ। वही असर, जो होना चाहिए था। मैंने रात को देर से आना बन्द कर दिया। रात का खाना रीता के साथ खाने लगा लग-भग नौ-दस बजे के बीच। पहले तो यह बात बड़ी अटपटी-सी लगी, कारण प्रोफेसर लाल और मीता ठीक आठ बजे खाना खा लेने के आदी थे। पर रीता उनका साथ छोड़ मेरी प्रतीक्षा करती।

कुछ दिनों बाद यह अटपटापन भी ठीक ही लगने लगा। सभी इसके अभ्यस्त हो गये। मेहमान को अकेले भी खाने के टेबिल पर कैसे छोड़ा जा सकता था?

पर, क्या मैं अब भी मेहमान रह गया था !

मेहमान ! किसका ?

रीता का ?

धत् !

● ● ●

१३

कालरथ का चक्र घड़ी की सूई की भाँति गोल-गोल चक्कर काटता गया। दिन के पीछे रात और रात के बाद प्रभात आते गये, चलते गये। हम सभी पढ़ते गये बढ़ते गये। मेरे भाई, मेरी बहनें, लीला, मीता, रीता, मैं—सभी तो बढ़ रहे थे, पढ़ रहे थे। बुजुर्गों की कमर इस बाढ़ से झुकती जा रही थी। प्रोफेसर लाल झुक चले, माँ झुक चली।

मेरी परीक्षा के दिन पास आये, चार्टर्ड एकाउटेण्ट्स की फाइनल परीक्षा कुछ खिलवाड़ तो थी नहीं। यदि अच्छा डिवीजन न लाता, तो कोई पूछता नहीं। रीता का बी० ए० फाइनल था, मीता का हायर सेकेंडरी का फाइनल था। कोई किसी की मदद नहीं कर सकता था। फिर भी मीता कब मानती ! किसी-न-किसी बहाने पहुँच ही जाती, एक-न-एक प्रश्न करने।

मुझे समय बिलकुल नहीं मिलता। फ़र्म का काम, पार्ट टाइम काम। मुश्किल से रात को तीन चार घंटे पढ़ पाता और बहुधा दो बजे का घंटा रात के सन्नाटे में सुनकर पलंग पर जाता।

छुट्टियों के दिन रीता बराबर साथ रहने का प्रयत्न करती। यदि कभी मैंने संकेत से मना करने का प्रयत्न भी किया, तो बोली, "देखो प्रकाश, इतना भर सुख तो न छीनो।"

तुम्हारा क्या घट जाता हैं ?"

"मेरा तो कुछ भी नहीं घटता रीता, सोचता हूँ कहीं तुम्हारा कुछ न घट जाय !"

"धत्....।" कहकर मारे शर्म के वह मुँह फेर लेती।

इन्हीं दिनों लीला की शादी का निमंत्रण आया। साथ में मामाजी का खत भी था। लिखा था, "बेटे प्रकाश, आना तुम जरूर। बिना तुम्हारे आये, यहाँ चलने का नहीं। इस शादी में कुछ झंझट का अन्देशा है।"

लीला का भी अलग से एक नन्हा-सा खत आया।

"अगर तुम्हें मेरा ज़रा-सा भी खयाल होगा, तो तुम मेरी शादी में जरूर आओगे। तुमसे ढेर-सी वातें करनी हैं, जाने कैसी-कैसी।...क़सम मेरे सिर की जो तुम न आओ।"

परीक्षा बिल्कुल पास थी। मैं इस कशमकश में मरने लगा। रीता ने मेरी व्यथा समझी। मैंने उसे साफ-साफ सारी वातें वता दीं, फिर भी कोई तरकीब न सूझी। हम यह समझते थे कि लीला की शादी में जाना जरूरी है, पर कैसे ?

मैं तड़पकर रह गया। लीला तथा मामाजी से माफ़ी माँगी और उपहार में एक महँगी रेशम की साड़ी भेज दी। अपनी मजबूरी पर वार-वार पछताया, सिर धुना। पर इससे होना क्या था ?

लीला की शादीवाली रात को पढ़ाई-लिखाई सम्भव न थी। मीता, रीता तथा मैं—तीनों शाम को हजरतगंज चले गये। एक रेस्ट्राँ में हम कॉफ़ी पी रहे थे कि अँधेरे कोने की एक टेबिल पर दिनेश एक दूसरी लड़की के साथ दिखायी दिया। सबसे पहले मीता ने ही उसे देखा। उसने इशारे से रीता को दिखाया, तो मेरी भी निगाह उधर पड़ गयी।

हम सभी सन्नाटे में आ गये। मेरा भारी मन और भी भारी हो गया। वातावरण बोझिल हो उठा, जिसमें हम तीनों का दम घुटने लगा। हम खुली हवा पाने के लिए रेस्ट्राँ से चुपचाप बाहर आ गये। किसी ने कुछ कहा नहीं।

अब भला कहाँ जाते ? घर लौट आये। रीता मुझे छोड़ना नहीं चाहती थी, पर मैं एकान्त चाहता था। बंगले पहुँचते ही मीता 'जीजी' कहकर फफक-फफककर रोने लगी, नन्हीं बच्ची की तरह। रीता ने उसे गोद में ले लिया और सोफे में बैठकर उसका सिर, उसकी पीठ सहलाने लगी। मीता औंधी पड़ी, रीता की गोद में अपना सिर गाड़े सिसक-सिसककर रोती रही। मैंने मौन इस तीर-बिंधे पंछी का तड़पना देखता रहा पर मेरे मन का पंछी जो तड़प रहा था, कराह रहा था, उसे भला कौन देखता। कौन सँभालता ?

काश, मेरे मन का घायल पंछी भी अपना सिर रीता भी गोद में डालकर सान्त्वना पा सकता ! पर कहाँ ऐसे थे मेरे भाग्य !

रीता ने मेरी कशमकश को मेरी तड़पन को समझा। हमारी आँखें मिलीं और मैंने कहा, "रीता, तुम मीता को सँभालो, मैं चला।"

उसने मौन स्वीकृति दी। बोली कुछ भी नहीं। मैं आहिस्ते-आहिस्ते अपने कमरे में चला गया और एक कुर्सी में धँस पड़ा। सिर दोनों हथेलियों में टेक लिये और दिल के घाव की एक-एक सीवन उघेड़कर देखने लगा एक-एक पात नोच-नोचकर लहूलुहान कर दिया।

वह स्मृतियों का दंशन।

लीला की एक-एक हरकतें !

मेरी मजबूरी !

जिन्दगी की यह कैद !

रात-भर नींद नहीं आयी। मस्तिष्क लाल अंगारे की तरह जलता रहा, बलता रहा। सबेरे-सबेरे रीता स्वयं चाय लेकर आयी। मेरा चेहरा देखकर डर गयी। भूत का रूप !

"यह क्या कर लिया तुमने रात-भर में ?"

"कुछ भी तो नहीं।"

"कुछ भी तो नहीं,'''अपना मुंह देखा है शीशे में ?"

"देख तो रहा हूँ सामने" बात टालने की कोशिश की। उसने चाय बनाते पूछा, "वहुत मुहब्बत थी क्या ?"

'किससे ?"

"मैं क्या जानूँ ?"

मैंने चाय ले ली चुपचाप। पर, सिप भी न किया था कि नयन-कोर से आँसू टप-टप टपकने लगे। चाय की प्याली में पड़े। मैंने प्याली अलग रख दी। रीता बोली, "आइ ऐम सॉरी।" और ट्रे उठाकर चली गयी।

× × ×

प्रोफेसर साहब की चिन्ताएँ अपनी अलग की थीं। लड़कियाँ सयानी हो चली थीं। उनकी शादी करनी थी। लड़का कोई नज़र में था नहीं। अपने बाद अभिभावक की कमी महसूस होती थी। रिटायर होने में पाँच साल बाक़ी थे, पर बंगले का लीज तो तीन ही साल में समाप्त होनेवाला था। किसी और घर की तलाश करनी थी।

मेरे ऊपर उनके आस का पंछी कभी-कभी छन-भर को टिक जाता था, पर वह भी आशा एक दिन धूल में मिलती नजर आयी।

एक दिन शाम को चाय पीने के बाद हम लोग 'लॉन' में टहलने लगे। हमारी बातों में कोई खास दिलचस्पी न होने के कारण मीता और रीता हमें छोंड़ बंगले में चली गयीं। हम दोनों का टहलना जारी रहा।

बातों के दौरान टहलते-टहलते रुककर प्रोफेसर लाल बोले, "प्रकाश, एक बड़ी मनहूस खबर मेरे पास आयी है।"

"कैसी सर ? किससे बारे में ?" मैंने चिन्तित भाव से पूछा।

"तुम्हारे बारे में।"

"मेरे बारे में ? वह क्या सर ?"

"मि० भार्गव कल की पार्टी में मिल गये थे। बोले, "किसी कॉलेज का एकाउण्ट आडिट करते हुए तुमने फ़र्निचर खरीदने के पाँच हजार रुपये के बिल पर आपत्ति की है, और उसे जाली बताया।"

"हाँ, सर, मेरा ख्याल है कॉलेज का सेक्रेटेरी उस रुपये को खा गया है; क्योंकि फ़र्निचर की 'इन्भेण्ट्री' से यह खरीद साबित नहीं होती।"

"और पाँच नये कमरोंवाली बात क्या है ?"

"वैसे कमरे, मेरे ख्याल में दस-दस हज़ार रुपये से ज्यादे के नहीं हो सकते। कुल पचास हजार के लगभग का खर्च है। सेक्रेटरी ने डेढ़ लाख का बिल पेश किया है, जिस पर ठीकेदार की बाजाब्तें दस्तखत हैं। मेरा यक़ीन है कि सेक्रेटेरी इसमें तफरीबन एक लाख रुपये खा गया है। अब आप ही बताइये, मैं उसका एकाउण्ट कैसे पास करूँ ?"

"मगर मि० भार्गव का ख्याल कुछ और है। उनकी समझ में तुम्हारी इस हरकत से उनके बिजनेस को धक्का पहुँचता है। उनका कहना है कि जब तक कागजात ठीक हैं, तुम्हें बहुत मीन-मेख नहीं निकालना चाहिए। ऐसा करने से पार्टियाँ दूसरी फ़र्म के पास चली जायेंगी। सारे शहर में आजकल यही चर्चा है। बेचारा सेक्रेटरी किसी को अपना मुँह नहीं दिखा सकता।"

"मगर मैं झूठ कैसे....?"

"समाज में कोई देवता नहीं, कोई दानव नहीं, सभी इन्सान हैं, और उनके पास इन्सान की कमजोरियाँ हैं। इस बात को समझकर ही चलने में तुम्हारी बेहतरी है।" वे बोले।

मैं अचम्भे में आ गया। मुझे उम्मीद नहीं थी कि वे मुझसे ऐसा कहेंगे। मैं ठिठक गया। वे कदम बढ़ाते हुए बंगले में चले गये। मैं लॉन की एक बेंच पर बैठ गया और अँधेरे में अपनी जिन्दगी की राह टटोलने लगा।

मैं ऑडिटर हूँ, कानून का ट्रस्टी हूँ, सतपथ को कैसे छोड़ूँ ? चोर कहने से हिचकूँ ? फिर ऑडिट करने से लाभ ! यह कैसा अंधेर है ? चोरी करे कोई और, शिकायत हो मेरी ! शिकायत मेरी इसलिए कि मैंने एक चोर के ऊपर उँगली उठा दी और वह समाज में मुँह दिखाने लायक नहीं रहा....।

मि० भार्गव मुझसे नाराज हैं, तभी उनका बर्ताव पिछले कुछ दिनों से सूखा-सूखा-सा हो रहा है। उनके बिज़नेस को धक्का पहुँचता है। उनके स्वार्थ को धक्का पहुँचता है, अब वे मुझे किसी बड़ी पार्टी के यहाँ नहीं भेजेंगे। अपनी फर्म में

नहीं रखेंगे। नौकरी मुझे कोई देगा नहीं। सारी दुनिया तो चोर है, भला उँगली उठानेवाले को कोई क्यों रखे ?

अगर अपनी फर्म खोलूँ, तो कोई अपना बिजनेस नहीं देगा। यह तो भूखों मरने की राह हुई। सचाई की राह कितनी टेढ़ी है। इस पर कितने काँटे बिछे हैं। एक ओर खाईं तो दूसरी ओर खन्दक। इन्सान इस पर कैसे चले ?

मैं क्या करूँ ? क्या करूँ मैं ?

जाने कितनी देर तक उस अँधेर में मैं बैठा रहा। होश तब आया, जब रीता मुझे खोजती-खोजती वहाँ आ पहुँची। बोली, "आज डिनर नहीं खाना है क्या ?"

"चलो, चलता हूँ।"

मैं चुपचाप उठ पड़ा और उसके साथ हो लिया। चलते-चलते वह बोली, "अँधेरे में बैठकर क्या करते थे ?"

"तारे गिनता था।"

वह मुस्करायी। उसने पूछा, कितने निकले।"

"बस एक !

हम दोनों मुस्कराये। चलते-चलते वह पूछ बैठी, "क्या सोचते थे ?"

"सोचता था इस आकाशगंगा पर पाँव रखकर चल पाता तो कितना अच्छा होता ! पर, कैसे चलूँ।"

उड़ रहे हो मुझसे ?"

"नहीं रीता, शायद धरती पर चलने का ढंग नहीं आता, इसीलिए आकाश पर चलने की बात सोचता हूँ।"

× × ×

रीता की बात छेड़कर वीणा ने कुछ अच्छा नहीं किया। मैं तो बिल्कुल ही रीता में खो गया। कब धूप ढली, कब शाम हुई, मुझे कुछ पता ही न चला। जब अँधेरा हो चला तो वीणा भागती हुई मेरे पास आयी। आते ही उसने पूछा, "क्यों भाईसाहब, चाय-वाय नहीं पीनी है क्या ?

"तुमने पूछा ही कब ?"

लीजिए, आ तो गयी सदेह। इतना खोये खोये क्यों लगते हैं ? कोई खास बात है ?"

"नहीं, जाड़े की धूप का आलस मात्र है !"

"तन का या मन का ?"

"दोनों का समझ लो।"

हम उठ पड़े। चाय की टेबिल पर रात की पार्टी की सारी व्यवस्था की छान-बीन की गयी। लगभग बीस अतिथि आनेवाले थे, जिनमें पाँच जोड़े वीणा के हमउम्र दोस्तों के थे। कुछ बुजुर्ग भी थे, जो मैंनेजर की कैटिगरी के थे।

सूरज डूबा। रात हुई। अँधेरा छाया। रंग-बिरंगी बल्बवाली बत्तियों से लॉन जगमगा उठा। पूरा बंगला दूधिया ट्यूब लाइट में नहा गया। घर में चाँद जैसे कैद हो गया। सात बजते-बजते मेहमान आने लग गये। वही स्वागत सत्कार, परिचय, ड्रिंक तथा सोशल बातें। वीणा ने मेरा परिचय देते हुए मुझे दिनेश का अज़ीज़ दोस्त बताया। अजीज़ !

एक बार तो मैं चौंका, पर सँभल गया। दस बजे डिनर सर्व हो गया। बारह बजते-बजते बुज़ुर्ग मेहमान चले गये। फिर क्या था, रेकार्ड चला दिया गया। नये जोड़े फ़र्श पर नाचने लगे। बत्तियाँ लगभग गुल कर दी गयीं। मन्द-मन्द प्रकाश कमरे में रह गया। अँधेरे की वह धर-पकड़, उछल-कूद, फुस-फुस बातें, रह-रहकर हँसी की खिलखिलाहट, स्मृतियों का दंशन, मेरा जी घबराने लगा।

वीणा ने चेष्टा की, मैं उसके साथ नृत्य करूँ पर सिरदर्द ने मुझे ज़ोर से पकड़ लिया। रीता और मीता की याद मुझे खरोंचने लगी। वीणा की एकाध सहेलियों ने भी ज़ोर लगाया, पर मेरा मूड नृत्य करने को न हुआ। मुझे निरंतर मीता की सिसक, हर नृत्य, हर ताल, हर गति में सुनायी देती रही।

मैं जाने कब चुपचाप उठकर पलंग में चला गया। मेरी इस हरकत से वीणा का दिल जरूर टूटा होगा। पर टूटे, मैं क्या करूँ ? सभी कुछ तो टूट रहा है।

मेरी जिन्दगी ही टूटती जा रही है।
कोई तो नहीं जोड़ता इसे।
कौन जोड़े ? कैसे ?

• • •

१४

भगवान ने हमारी लाज रख ली। हम तीनों अपनी-अपनी परीक्षा में सफल रहे। मुझे फ़र्स्ट क्लास मिला, रीता को सेकेण्ड और मीता को थर्ड। चलो, सभी पास तो हुए। दिल तो सभी के डूब रहे थे, किसी ने कुछ पढ़ा न था। हरेक को अपनी-अपनी उलझनें थीं।

जिस दिन से मीता ने दिनेश को किसी ग़ैर लड़की के साथ देखा था, उसके दिल को चैन न पड़ी। दिनेश का आना-जाना भी उसके पास बहुत कम हो गया। बड़ी छान-बीन के बाद पता चला कि किसी दिन बातों के सिलसिले में मीता ने दिनेश को बता दिया था कि बंगला उसका लीज़ का है, अपना नहीं और वह लीज़ भी ख़त्म होनेवाली है। जब उसने यह बात बतायी थी, तो दिनेश चिहुँका था।

मीता ने धीरे-धीरे उस नयी लड़की की भी छान-बीन कर डाली, पूरी तरह से। वह दिल्ली से लखनऊ अपने मामा के घर आयी थी। वहाँ मिरांडा कॉलेज में पढ़ती थी, बड़ी खूबसूरत, बड़ी फैशनेबुल और बाप की इकलौती संतान। दिल्ली में उनकी अपनी दो-दो कोठियाँ हैं। बाप अच्छा बिजनेसमैन है। और क्या चाहिए ? उसके सामने भला एक प्रोफेसर की लड़की भला कैसे

टिकती ? मीता का दिल टूटना था, सो टूटा। पोर-पोर चिटकता गया, एक-एक करके। वह रोती गयी, घुलती गयी, तड़पती गयी। रीता ने माँ का रोल अपने हाथ में जरूर ले लिया मगर भला ऐसे घावों पर मरहम-पट्टी कभी होती है ? नाजुक हाथों से नाजुक दिल को सहलाने-भर का जो सुख-संतोष है, बस उतना ही भर दे पायी उसे।

जाड़ा आते-आते दिनेश की शादी हो गयी—दिल्ली। मीता ताकती रह गयी। उसने पहली बार जाना भावुकता और व्यवहार की दुनिया का अन्तर। व्यवहार ने उसके भाव-पक्ष को करारी ठेस दी। वह चोट खाकर तिलमिला उठी, उसकी मुहब्बत का चमन वात-की-वात में उजड़ गया। हम सभी देखते रह गये। किसी को कुछ भी करते-वरते न वना।

यह दुनिया है रूप की, जवानी की, पैसे की। वाजी वही मारेगा; जिसके पास धन होगा, रूप होगा, जवानी होगी। यहाँ इन्हीं वाटों-फीतों से मुहव्वत की नाप-तौल होती है। मीता को यह कड़वा सत्य महँगा पड़ा ! वह सजीव मुर्दा की जिन्दगी जीने लग गयी।

धरती में ब्रह्मपिशाचों की कमी नहीं। माँ के खत से पता चला कि लीला एक सप्ताह ससुराल में रहकर गाँव आ गयी। आ तो क्या गयी, भेज दी गयी। आते समय ससुरालवालों ने उसके सारे गहने तथा वेशकीमती कपड़े उतरवा लिये। इस वात का भी संकेत कर दिया कि जब तक दहेज की कमी पूरी न होगी, उसकी विदाई नहीं होगी, उसे मायके में ही रहना होगा।

मामा या लीला का अव कोई खत न आया। मैंने, जाने क्यों, अपने को इस मामले में गुनहगार माना। मेरा मन वार-वार यही कहता कि यदि मैं शादी में चला गया होता तो इतना वड़ा टंटा न खड़ा होता। लीला की जिन्दगी यों वरवाद न होती। मामाजी ने अपने खत में इस झंझट का संकेत भी कर दिया था।

मैं अपने अपराध की गुरुता से काँप उठा। रीता को सारी बातें बता दीं। उसने मुझे निर्दोष वताने की कोशिश की। सान्त्वना दी। पर अपना जी न माना। मैं तड़प उठा। छटपटाने लगा।

इधर मेरी अपनी समस्याएँ और भी उलझती जा रही थीं। परीक्षा तो मैंने पास कर ली, पर भार्गवा के यहाँ से मेरा काम समाप्त हो गया। अपनी फर्म में नौकरी देने से उन्होंने मजबूरी जाहिर की। मुझे उम्मीद भी ऐसी ही थी। नौकरी के लिए मैंने चक्कर काटना शुरू किया। लखनऊ की छोटी-बड़ी लगभग सभी कम्पनियों में गया, पर लगता था कि मुझसे पहले मेरा नाम वहाँ पहुँच चुका था। हर जगह से निराश होना पड़ा।

एकाध, फर्मों ने कुछ चाव भी दिखाया तो भार्गवा के यहाँ से रेफरेंस लेने पर उन्होंने मुँह मोड़ लिया। अब क्या हो ?

मेरा भाई प्रभात भी मैट्रिक इसी वर्ष किया था। उसका नाम कॉलेज में लिखवाना था। पढ़ने में वह तेज था, फर्स्ट डिवीजन ले आया था। माँ से कुछ रुपये लेकर उसने बनारस में नाम भी लिखवा लिया, पर रुपये तो खर्च के लिए हर महीने चाहिए। वह कहाँ से आये ?

मैंने पार्ट टाइम कामवालों से कुछ कहा-सुना, तो उन्होंने वेतन सौ रुपये से बढ़ाकर एक सौ पच्चीस रुपये कर दिये। भला इतने रुपयों से क्या होना था, जब दैनिक उपयोग की हर चीज की कीमत आसमान छू रही थी।

मैं दिन-दिन-भर चक्कर काटता, पर हाथ कुछ भी न लगता। सवेरे निकलता, तो बड़ी रात गये आता। हर किसी से कन्नी काटने की कोशिश करता, फिर की रीता से बच न पाता। वह सब जानती थी, सब समझती थी, पर बेचारी मजबूर थी, करे तो क्या ?

मैं सौ रुपये तो माँ को भेज देता, शेष में अपना काम चलाने की कोशिश करता। फाकेकशी की नौबत आयी। पावरोटी और एक प्याले चाय पर दिन गुजरने लगे। फिर तो चाय भी बन्द कर देनी पड़ी। आखिर जीने के लिए चाय तो कोई जरूरी चीज नहीं! इन्सान को तो रोटी मिल जाय और बस !

प्रभात की चिट्ठी हर तीसरे दिन आने लगी। मेरी समझ में नहीं आता था कि क्या करूँ। बार-बार रोना आ जाय, पर, रोने से भला क्या होना था ? गरीबी जिन्दगी की सबसे बड़ी अभिशाप लगी, सबसे बड़ा रोड़ा।

सितम्बर आते-आते मेरा बुरा हाल हो गया। मैं लगभग पागल हो चला। क्या करूँ? क्या न करूँ? कुछ भी नहीं सूझ रहा था। अपने वस का तो कुछ था नहीं। जी में आता—सारी सर्टिफिकेट्स में मैं आग लगा दूँ, पर उससे काम तो न मिल जाता।

एक दिन बातों-बातों में मुझे मालूम हुआ कि प्रो० आशरानी को एक 'हेल्पर' चाहिए, कोर्स की किताबें लिखने में। वात तो प्रो० लाल से ही मालूम हुई थी, पर मैंने अपने को इस काम के जिए अयोग्य समझ जिक्र न किया। फिर भी जी न माना, मरता क्या न करता! चुपके से जाकर प्रो०आशरानी से मिला। वहाँ पता चला कि मदद तो क्या करनी है, हिन्दी की पुस्तक है पाण्डुलिपि की साफ-साफ नक़ल उतारनी है। बड़ा हीन काम लगा, नक़लनवीस का काम। फिर भी मैंने चुपचाप स्वीकार कर लिया। वक्त की आवाज ने जैसे मेरे कानों में फुसफुसाकर कहा—स्वाभिमान और दरिद्रता को एक लीक पर चलाओगे, तो भारी दुर्घटना होगी। इन दोनों की गति, दोनों का चरित्र कभी मेल नहीं खाते। पर, काम मैं आशरानी के बँगले पर ही करने को तैयार हुआ। मि० लाल के बँगले पर लाने में रीता द्वारा पकड़े जाने का भय था।

मैं आठ-आठ, दस-दस, बारह-वारह घंटे रोज प्रोफेसर की पाण्डुलिपि लिखता। हाथ थक जाता, उँगलियाँ चिटकने लगतीं, रीढ़ की हड्डी चरमराने लगती। लगभग महीने-भर में यह काम समाप्त हुआ। पैसे जो मिले, वे एक रुपये प्रति घंटा के हिसाब भी न पड़े। मैं हताश हो गया। जिन्दगी से जी ऊबने लगा। उकता कर मैंने प्रभात को लिख दिया कि वह पढ़ाई छोड़कर घर चला जाय। पैसे की कोई भी व्यवस्था सम्भव नहीं।

पत्र डालकर अपने कमरों में आया, तो ऐसी हालत हो गयी, जैसे किसी प्रियजन की चिता फूंककर मसान से लौटा होऊँ। उतरा चेहरा, भारी कदम, लटका मुँह। मैंने चारपाई पकड़ ली। निरंतर की भयानक चिन्ता से बुखार और सिर-दर्द हो आया। मुँह में अन्न का एक दाना तक न डाला। हाँ, चाय को इन्कार न कर सका।

तीन-चार दिन गुज़र गये, चाय पर रहते। रीता ने बार-बार पूछा, "क्या बात है ?" पर, मैंने कुछ न कहा। भला गरीबी की यंत्रणाएँ भी कोई कहने की चीज है ?

प्रभात का उत्तर लौटती डाक से आया। वह हॉस्टल छोड़कर गाँव चला गया। यह तो जैसे आत्म-पराजय का ही संवाद हो। मैं सोचता रहा, सोचता रहा, फिर फूट-फूटकर रोने लगा।

हाय री गरीबी ! ऐसी जिन्दगी से तो मौत भली।

तभी जाने कहाँ से रीता टपक पड़ी। उसने झपटकर मेरे हाथ से प्रभात का खत ले लिया। पढ़ने लगी। पढ़कर बोली, "तुमने बराबर मुझे गैर ही समझा।"

"क्यों ?"

"तुम मुझसे रुपये ले लेते, प्रभात को भेज देते।"

लौटाता कहाँ से ? इस जन्म में कोई उम्मीद नहीं, अगले को चक्कर में कैसे धरूँ ?"

"और यदि जन्म-जन्म का साथ हो तो ?"

उस घोर दुःख व निराशा की बेला में भी हम दोनों क्षीण मुस्कराए। वह मेरा हाथ पकड़कर बोली, "वादा करो, आज से हम दोनों जिन्दगी की हर लड़ाई साथ-साथ लड़ेंगे, साथ-साथ जूझेंगे।"

मैं अवाक् रह गया। रीता का चेहरा देखा तो उस पर सौम्य मुस्कान तथा दृढ़ता नाच रही थी। उसका मुझ पर क्या असर पड़ा। हमारी आँखें मिलीं और मैंने कह दिया।

"मुझ पर तरस खाकर तो ऐसा नहीं करती ?"

"तुम भी कैसी बातें करते हो !"

"अच्छा, किया वादा।"

"सच ?" वह चहकी।

"सच !"

"पक्की ?"

"पक्की।"

हाथ पर हाथ मारकर हमने वादे पक्के किये। फिर उसने मेरा हाथ पकड़कर झकझोरते हुए कहा, "उठो। तुम्हारे लिए ताजे टोस्ट, आमलेट और चाय बनाकर लायी हूँ।"

इस नयी प्रतिज्ञा से मेरे तन-मन में एक स्फूर्ति जागी, एक नयी चेतना ने करवट ली। मैंने अंगड़ाई भरी और तौलिया लेकर मुँह-हाथ धोने चल पड़ा। फिर जी-भरकर टोस्ट खाये, चाय पी।

मैं ऑडिटर हूँ न? एक और एक मिलाकर दो करना जानता हूँ, मगर आज पहले-पहल महसूस हुआ कि जब एक और एक पास आकर मिल जाते हैं, तो दो नहीं, बल्कि ग्यारह होते हैं, रीता से हुए नये वादे के कारण मन हल्का होकर हवा में उड़ने लगा, तैरने लगा।

इसी प्रकार पूरा एक सप्ताह बीत गया। अकारण मैं छाती फुलाये जग-जीतने की तमन्ना लिये घूमा किया, पर हुआ कहीं कुछ भी नहीं। हाँ, एक दिन रीता रुपया पाने की एक रसीद लिये मेरे पास आयी, जिससे मालूम हुआ कि उसने प्रभात को पचास रुपये भेजे थे उसी की यह रसीद थी। बोली, "मैंने तुम्हारे दिये अधिकार का उपयोग किया। मनीआर्डरवाले कूपन में लिख दिया था कि प्रभात कॉलेज चला जाय।"

मैं मुस्कराया। बोला, "बड़ी उस्ताद निकलीं तुम!"

"और मुझे समझते क्या हो? तुम्हारी तरह।"

"बेवकूफ....!" मैंने पूरा किया।

"पर ये रुपये....?" मैं बुदबुदाया।

"इस जन्म नहीं तो अगले जन्म, नहीं तो उसके अगले, नहीं तो....।"

"उसके अगले, और अगले....।"

हमारी हँसी से कमरा भर गया। जाने कितने दिनों बाद मैं हँसा था। हँसना तो जैसे भूल ही गया था। बोला, "जानती हो, मैं किसी फ़िल्म का हीरो होता तो क्या करता?"

"डाके देते मेरे डैडी की तिजोरी पर।"

"नहीं जी, हेवेट रोड में सड़क कूटता दिन-भर अठन्नी पाने के लिए।"

"और मुहब्बत के गाने गाने-गाते मेरे बंगले के सामने, क्यों?"

"क्या तुम साथ न देती? ड्यूएट में?"

"मैं वैसी हिरोइन नहीं।"

जाने क्या सूझी उसके बादवाले मंगल को हम दोनों अमीनाबाद में हनुमान-जी के मंदिर गये। वहाँ पर साथ ही खड़े होकर देवता की प्रार्थना की। एक दूसरे का हाथ पकड़कर अपनी प्रतिज्ञा मन-ही-मन दुहरायी और चले आये। बाहर आकर वहाँ की प्रसिद्ध 'चाट' खायी गयी।

देवता का प्रसाद फला। घर आते ही प्रो० लाल ने बताया कि 'मुकर्जी ट्यूटोरियल इन्स्टिट्यूट' में एक प्रोफेसर की जरूरत है जो बी० काम० के लड़कों को 'एडवांस्ड एकाउंटिंग' पढ़ा सके। बोले, "मैंने तुम्हारी चर्चा प्रो० मुकर्जी से की, तो वे बड़े खुश हुए। यदि तुम चाहो तो वे तुम्हें लेने को तैयार हैं। तीन-चार घंटे रोज़ का काम है, तनख्वाह दो-ढाई सौ रुपये तक मिल जायगी।"

अंधे को चाहिए क्या? दो आँखें! मैंने समझा, देवता के वरदान फले। फिर से एक बार मंदिर जाकर प्रार्थना करने को जी चाहा, इस बार घुटने टेक कर, मगर रीता को मन्द-मन्द मुस्कराते देखकर सचाई कुछ-कुछ फूटने लगी।

मैंने कहा, "जी मुझे स्वीकार है, आप बात पक्की कर लें तो····।"

"अरे इसमें क्या है, लो अभी करता हूँ।" और उन्होंने टेलीफ़ोन उठाकर प्रो० मुकर्जी से बातें आरम्भ की। इधर हमारी और रीता की आँखें मिलीं। वह आहिस्ते से बोली, "देखी मेरी क़िस्मत!"

"तेरी या मेरी?"

"मेरी! आपकी क़िस्मत के तो क्या कहने। काफ़ी चाशनी मिल चुकी है। हाँ; जब से मुझसे हाथ मिलाया है, आपका सितारा कुछ-कुछ चमकने लगा है।"

"और क्या? मेरी खोटी और तेरी बुलन्द क्यों?"

"जी, हाँ।"

"फिर तुझे क्यों खोटी क़िस्मतवाला मिला और मुझे बुलन्द क़िस्मतवाला ? अब बोल किसकी रही बुलन्द व क़िसकी खोटी ?"

"भई आप जीते और मैं....।"

इतने में प्रो० लाल फ़ोन पर बातें समाप्त करके आ गये। बोले, "भई प्रकाश, वे कहते हैं अभी दो सौ रुपये माहवार देंगे फिर छह महीने बाद ढाई सौ कर देंगे। मैं हाँ कर दूँ ?"

"जी हाँ, आपका बहुत-बहुत शुक्रिया।"

प्रो० लाल, ज्योंही फोन की ओर फिर मुड़े कि रीता ने झपटकर हाथ मिलाया और बोली, "अब लाओ मिठाई।"

"मिठाई नहीं, अमीनाबाद पार्क की चाट।"

डूबते को तिनके का सहारा मिला। मेरी जान-में-जान आयी। हमारी डूबती नाव थपेड़े खाकर भी तैरती रही। मुझे नयी जिंदगी मिली। प्रभात को शिक्षा जारी रखने की व्यवस्था हो गयी।

● ● ●

१५

लगे हाथों रीता ने एक और काम कर डाला। मुझे मजबूर किया कि मैं एक आडिटरर्स की फर्म खोल लूँ। मैंने रजिस्ट्रेशन करवा लिया। आफिस बंगले के ही एक साइड रूम में खुल गया। बाहर रोड पर बोर्ड लग गया। मैंने स्वामित्व का गौरव अनुभव किया, गो कि केस न तो एक मिले थे और न मिलने की आशा थी।

मीता अपना टूटा दिल लिये कॉलेज में पढ़ने गयी। रीता ने एम० ए० में नाम लिखवा लिया यूनिवर्सिटी में। जीवन पूर्ववत् चलने लगा जैसे कहीं कुछ हुआ ही न हो। हाँ, मीता की सारी चुहल समाप्त हो गयी। टूटे प्रेम ने उसके व्यक्तिव्य में एक निराली गम्भीरता भर दी। हँसना कम, बोलना कम, खेल कम, दौड़ना बिल्कुल नहीं—यह क्या हो गया मीता को ? दिनेश ने तो खिलने से पहले ही कली को मसल डाला—सो भी ऐसी निर्दयता के साथ कि जिसमें चाँदनी में धुले अमृत के ओस-कण भी नये प्राण न फूंक सकें।

पर, प्रकृति तो अपना काम किये ही जा रही थी। तन निखरता आ रहा था। चेहरे पर सुन्दरता के साथ-साथ शालीनता भरती जा रही थी। उसके उदासीन सौंदर्य में भी एक मोहकता थी जो सबसे अलग, सबसे निराली लगती थी। वह अभी से दायित्व के भार से गौरवित राजबहू, राजरानी-सी लगती थी। जाने उसके भीतर की चंचल लड़की कब मर गयी और इस गौरवशाली वधूपन ने कब स्थान ले लिया, कुछ पता न चल सका।

मीता के भीतर ऐसे सौम्य आकर्षण का जन्म हुआ जो भौंरों को आस-पास खींचे तो जरूर, पर उसे छू लेने की उनकी हिम्मत न पड़े। सोने-सा दमकता तन, हीरे के कोर-सा चमकता आनन, गोल-गोल लम्बी मृणाल के नाल-सी बाँहें, सचमुच कदली को मात करनेवाली रानें, राजहंसिनी की चाल, बड़े-बड़े नयन, चञ्चलता से हीन—उनमें अदम्य शक्ति, जो बिगड़े हुए जानवर को भी नत होने को मजबूर कर सके। हम सभी दंग रह गये, मीता की इस रूप-राशि पर, उसके नये परिवर्तन पर।

कॉलेज जाते-आते, राह चलते, मनचले युवक उसे ताकते रह जाते, पर किसी की हिम्मत न होती कि उस पर छींटाकशी करें, दो बोल बोले जायँ, सिटी बजाएँ या बात करने का साहस करें।

और एक शाम को एक चाय-पार्टी में पड़ गयी मि० खन्ना की निगाह मीता पर। मीता अपने पिता के साथ पार्टी में गयी थी। मि० खन्ना लखनऊ के पुराने रईसों में थे। इनके बाप-दादे लखनऊ के नवाबों के खजांची रह चुके थे। मि० खन्ना भी थोड़ा-बहुत हीरे-जवाहरात का काम करते थे। हीरे के

ज़बर्दस्त पारखी थे, तभी तो मीता पर निगाह पड़ी उनकी। चौक में उनके चार-पाँच मकान थे। अपने रहने की हवेली तो पूरी राजवाड़ी थी। सूद पर रुपये चलाने का कारवार भी था।

अंग्रेजों-जैसे श्वेत, रोवीले एवं सुन्दर व्यक्ति थे। उम्र पैंतालीस के लगभग होगी, पर चालीस से किसी भी प्रकार अधिक नहीं लगते थे। बड़ी-बड़ी मूँछों से रोब टपकता था, वड़ी-वड़ी आँखों से नशा झरता था।

मि० खन्ना प्रो० लाल से मिले। मीता का भी परिचय कराया गया, फिर मि० खन्ना ने अपने लड़के के लिए मीता का हाथ मांगा। लड़का (रमेश) लखनऊ यूनिवर्सिटी में पढ़ता था, बी० ए० फ़ाइनल में। प्रो० लाल उसे जानते थे, बाप की ही तरह गोरा-चिट्टा, जवान, सुन्दर, सुशील—अपनी कार में आता, फ़र्स्ट क्लास का सूट पहनता, स्पोर्ट्स में भी भाग लेता।

प्रो० लाल मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए। घर आकर उन्होंने यह शुभ-संवाद सबको सुनाया। लखनऊ में मि० खन्ना की राजबाड़ी को कौन नहीं जानता? जब से मिसेज़ खन्ना का देहान्त हुआ, कोठी सूनी-सूनी-सी हो गयी थी। बाप-बेटे एक दर्जन नौकरों के साथ रहते थे। अब मीता उस कोठी की राजरानी बनकर जानेवाली थी।

प्रो० लाल को एक नयी चिन्ता ने आ घेरा। रीता का क्या होगा? और बड़ी लड़की की शादी किये बिना छोटी की शादी कैसे करेंगे? यह समस्या एक दिन उन्होंने मेरी मौजूदगी में ही रीता के सामने रखी। रीता ने झट जवाब दिया "पापा, मैं तो आपका लड़का हूँ, मीता लड़की। लड़की की शादी पहले कीजिए। लड़के की शादी की कैसी चिन्ता?"

"हाँ, वह तो लड़का अपने मन से कहीं करेगा!" प्रो० लाल ने झट जोड़ा। सभी हँस पड़े। रीता लजा गयी। प्रश्न छन-भर को टल गया। पर बात वहीं-की-वहीं बनी रही।

एकान्त में मैंने पूछा, "रीता, इस नयी समस्या का हल सूझा कुछ?"

"हाँ।"

मैं तो चकित रह गया। पूछा, "क्या?"

"लड़का अपने मन से कहीं करेगा !"

हम मुस्करा दिये ।

× × ×

मीता की शादी बड़े धूमधाम के साथ हुई । बारात ऐसी सज-धज के साथ आयी कि लखनऊवालों की आँखें चौंधिया गयीं । वे दाँतो तले उँगली दबाकर रह गये । क्यों न हो, खन्ना साहब लखनऊ के पुराने रईस जो ठहरे !

'कार्लटन' में शानदार पार्टी दी गयी । धूम-धड़ाका समाप्त होते-होते दुलहिन विदा हो गयी । प्रोफेसर साहब का बंगला सूना हो गया । बिल्कुल सूना । मीता के साथ-साथ घर की चुहल भी जाती रही । बुलबुल ने चमन बदल दिया । चमन वीरान हो गया ।

खन्ना साहब बहू के लिए हीरे-जवाहारात के गहने और बेशकीमती कपड़े लाये । देखनेवालों का दिल बल्लियों उछल पड़ा । सभी ने मीता के भाग्य की सराहना की । इतना ऊँचा घर, इतना खूबसूरत दुलहा, ऊपर से इतने अनमोल चढ़ावे ।

मीता की सहेलियों को उसके भाग्य से कुछ-कुछ ईर्ष्या भी हुई गो कि जाहिरा तौर पर किसी ने कुछ कहा नहीं । बारात में लखनऊ के रईसों और व्यापारियों के अतिरिक्त यू० पी० के मिनिस्टर और चीफ मिनिस्टर तथा बड़े-बड़े नेता भी शामिल हुए ।

घर मीता एवं रीता की सहेलियाँ से भर गया । उन्हीं में एक लड़की थी तारा, रीता की सहेली । यू० पी० के कामर्स एवं इण्डस्ट्री के मिनिस्टर मिस्टर पाण्डेय की इकलौती पुत्री । उसने शादी के प्रबन्ध में काफी हाथ बटाया व काम-काज की भीड़-भाड़ में मुझसे अनेक बार टकराती रही । मैंने कुछ विशेष ध्यान न दिया ।

और दूँ भी क्यों ? आखिर थी तो रीता की ही सहेली !

शादी के एक पखवारे बाद तारा का निमंत्रण आया डिनर का रीता तथा मेरे लिए । मैं हिचका, पर रीता ने हठ पकड़ लिया । बोली, "तारा ने कसम धरायी है, तुमको चलना ही होगा ।"

मुझको चलना ही होगा। और अगर अमानत में खयानत हुई तो ?"

"अरे, वाह रे "कैसिनोंआ।"

हम हँस पड़े।

बड़े सज-धज के साथ हम दोनों तारा के बंगले पर पहुँचे। उसके ठाठ-बाट देखकर हम दोनों चकित रह गये। वह रंग में साँवली भले हो पर खूबसूरत तो थी ही और उसकी ग्रीसियन कट और फिल्म-स्टारों-जैसी चाल के क्या कहने ?

डिनर में हम तीनों के अलावे तारा के पिताजी भी शामिल हुए। उन्होंने देश-विदेशों के व्यापार, मुद्रा-विनिमय तथा कैपिटल और मनी-मार्केट पर ढेर-सी बातें की। इतनी कि तारा व रीता ऊबने लगीं।

बातों-बातों में ही उन्होंने कहा, "सुना, तुमने ऑडिटरर्स की फर्म खोली है।

"जीं हाँ।"

"फिर हमारे पब्लिक सेक्टर के प्रोजेक्ट्स-वर्क का ऑडिट। तुम क्यों नहीं ले लेते ?"

मैं तो मारे अचरज के उनका मुंह ताकने लगा। वे बोलते गये, "वैसे काम बहुत बड़ा है, साल में चार-पांच लाख रुपये फीस के मिल जायँगे।"

"जी, मगर मैं कैसे··· ?

"क्यों ? क्या बात है ?"

"जी, मैं बदनाम जो हूँ।" सकुचाते-सकुचाते मैंने कह ही दिया।

वे 'हो हो' करके हँस पड़े। रीता और तारा चकित रह गयीं। जब उनकी हँसी कुछ रुकी, तो बोले, "मैं सब जानता हूँ प्रकाश, पर मुझे तो ऐसे ही आदमी की जरूरत है जो किसी भी मोल खरीदा न जा सके। आज का युग इतना भ्रष्ट हो गया हैं कि एक कैपिटैलिस्ट चाहे जिसे खरीद लेता है। उसकी दृष्टि में हर इन्सान की एक कीमत है, किसी की ज्यादा, किसी की कम।"

"जी, मुझे कुछ सोचने का समय दीजिए।"

"ठीक है, तुम कल शाम तक मुझे फोन कर देना।"

"जी, अच्छा !"

"इसमें सोचना क्या है ? अभी से 'हाँ' क्यों नहीं कर लेते ?" तारा बोल गयी।

रीता उसका मुंह ताकने लगी, पर मौन ही रही। मैंने मुस्कराते हुए कहा, "मगर अब तो कल तक की इजाजत मिल गयी। भला कोई हाथ आयी चीज भी छोड़ता है ?"

"काश, आप इसे समझ पाते !"

पर यह भूल-भुलैया मेरी समझ में नहीं आयी। कभी लगता इसके पीछे रीता या प्रो० लाल का हाथ है, कभी लगता यह एक नया नागपाश है। अपनी किस्मत खुलने की बात पर तो बिल्कुल ही यकीन न आता।

दूसरा दिन, दिन-भर तर्क-वितर्क, सलाह-मशविरे में बीता। प्रो० लाल हामी भरने के पक्ष में थे। रीता तो इसके लिए बहुत ही जोर देती, मगर जितना ही जोर देती, उतना ही उदास भी हो जाती।

क्या इस वरदान के बदले कहीं कोई बलि.... ?

दिन-भर में दो-तीन बार तारा का फोन आया इस सिलसिले में। 'क्या फैसला किया।' हाँ, क्यों नहीं कर लेते ?....

मैं और भी घबराया। यह कैसा चक्कर है ? कौन इसके पीछे है ? बिना मूल्य चुकाये तो इस संसार में कहीं कुछ मिलता नहीं। भला इस सौदे का मूल्य कौन चुका रहा है ? किस शक्ल में।

मेरी कशमकश तो खत्म होनेवाली न थी। रीता ने ही शाम को फोन उठाकर तारा से कह दिया 'ओ० के०'....।

बात खत्म हुई। उलझन मिटी। भटकन भाड़ में गयी।

हफ्ते-भर के भीतर ही 'एग्रीमेण्ट' पर दस्तखत हो गयी। मेरी व्यस्तता बढ़ गयी। हेवेट रोड पर ही खोजकर एक बड़ी बिल्डिंग मैंने किराए पर ले ली। बहुत से चार्टर्ड एकाउण्टेण्ट एवं ऑडिट क्लर्क भरती किये। वैसे अपना आफिस मैंने प्रो. लाल के बंगले में ही रखा, जहाँ से मेरा सितारा चमका था। धीरे-धीरे रीता हमारे सेक्रेटरी का काम करने लगी।

मैंने काम की सुविधा के लिए ऑडिट आफिस गोरखपुर, वनारस और कानपुर में भी खोले। बहुत चक्कर मारना पड़ता। कभी-कभी रीता साथ-साथ जाने का हठ करती, मगर मैं लखनऊ का काम उसके जिम्मे सौंप, अकेले अन्य जगहों को भाग जाता।

इधर तारा का आना-जाना भी वढ़ने लगा। जाने क्यों उससे मुझे भय लगता, भय—जैसे नौकरी करनेवाले लोग अपने 'बॉस' की बीवी से डरते हैं। तारा मेरे पास आने की कोशिश करती, मैं और खिच जाता, दूर भागता, और भागते भागते भी पास ही बना रहता। उसके स्नेह के नाना प्रकार के अत्याचार सहता। रीता सहम-सहम जाती।

मैं जव भी लखनऊ में होता, तारा एक-न-एक प्रोग्राम बना डालती, पिकनिक पार्टी, डान्स, फ्लोरशो····और न जाने क्या-क्या। मैं इस लपेट से बेहद घबराता, मगर अपना वश कुछ भी न चलता। रीता को अपनी ढाल बनाए, साथ लिये तारा के हर प्रोग्राम में शामिल होता। मेरी इस हरकत से तारा बहुत झुंझलाती, रीता भी कुल कम न झिझकती, और कभी-कभी तो दोनों ही मुझ पर ही बरस पड़तीं।

यह प्यार का अत्याचार !

एक जान, दो मुसीबतें।

× × ×

मीता एक सप्ताह ससुराल में रहकर आ गयी थी। रमेश भी बराबर आता-जाता रहता था। दोनों बड़े खुश नजर आते थे। रमेश बी. ए. पास भी हो गया।

घर में बड़ी खुशी मनायी गयी। मैंने उसके सम्मान में एक पार्टी दी।

जुलाई लगते ही एक दिन रमेश मीता को लेने आया। पता चला, उसने अपना ऐडमिशन दिल्ली यूनिवर्सिटी में कराया है एम. ए. और लॉ करने के लिए। वहीं हॉस्टल में रहेगा।

फिर मीता की विदाई का मतलब ?

आखिर लखनऊ यूनिवर्सिटी में क्या बुराई हैं ? अभी नयी-नयी शादी और अपना नगर छोड़ बाहर जाना।

कुछ भी समझ में न आया। रीता ने रमेश से हजार सवाल पूछे। पर उसने सबका एक ही उत्तर दिया, "पिताजी की ऐसी आज्ञा है।"

पिताजी की आज्ञा !

पर क्यों ?

बड़ा बेतुका लग रहा था सब कुछ। मगर कोई चारा न था। मीता की विदाई करनी ही पड़ी, मगर मन मसोस कर।

उतनी बड़ी हवेली में मीता को अकेले रहना होगा। रमेश भी न रहेगा, जो हँसी-चुहल से उसका मनोरंजन कर सके। मीता होगी, नौकरों की पल्टन तथा खन्ना साहब।

कैसा अटपटा है ? सास भी तो नहीं है, ननद भी नहीं है, जो वे सहारा होतीं।

आखिर खन्ना साहब इस बिदाई पर क्यों इतना मचल पड़े ? क्यों जिद पकड़ ली एक प्रकार की ?

वहू हवेली की शोभा है !

सूनी राजबाड़ी लक्ष्मी से भर जायगी।

दिन तेजी से बीतने लगे। घटनाएँ और तेजी से घटने लगीं। कभी हम चलते थे पर जिन्दगी पांव तोड़कर बैठ जाती थी। अब जिन्दगी की रफ्तार इतनी तेज हो गयी कि हम पिछड़ने लगे, घिसटने लगे।

दशहरे की छुट्टियों में रमेश दिल्ली से आया, पर उसके पहले ही एक घटना घट चुकी थी। उसके दिल्ली जाने के लगभग एक सप्ताह बाद मीता का फोन आया। मैं और रीता मिलने गये। वहाँ से शापिंग का प्रोग्राम बना। खन्ना साहब ने इजाजत दे दी। हज़रतगंज में दो-चार सामान खरीदकर कॉफी पी, हम सभी बँगले पर आये। मीता प्रो० लाल से मिली, दस साल की बच्ची की तरह फूट-फूटकर रोने लगी।

बहुत रोयी मीता। बेजार रोयी। और उसने खन्ना साहव की हवेली में जाने से इन्कार कर दिया। कारण कुछ भी न वताया। खन्ना साहब के कई संदेश आये, मगर सभी बेकार। हम सभी का प्रयत्न उसे भेजने का निष्फल गया। उसने एक बार जो जिद पकड़ी, तो बस, छोड़े न छूटी।

रीता के बहुत पूछने पर वह बोली, "क्यों बाघ बकरी एक कटघरे में वन्द करना चाहती हो जीजी ? क़हीं वाघ बकरी को खा जाय तो ?"

खैर, रमेश वहुत लाल-पीला हुआ आकर। मीता उसके साथ चली गयी, मगर इस शर्त पर कि रमेश दिल्ली जाने से पहले उसे मायके में छोड़ जायगा। रमेश मान भी गया।

मीता चली गयी, दस दिन के लिए ?

● ● ●

१६

मि० पाण्डेय ने अपने जाल की रस्सियाँ खींची। मछली छटपटायी।

एक दिन जब रीता अपनी सहेली तारा के साथ स्टडी के लिए उसके घर गयी थी, तो पाण्डेयजी ने उसे एकान्त में बुलाकर समझाया; "बेटा, तारा की शादी की समस्या है। वह तेरी सहेली हैं। अगर तू इस काम में मेरी मदद करे तो वेड़ा पार हो।""देख, प्रकाश तेरी मुट्ठी में है, मगर वह तेरी जात-विरादरी का नहीं है, जो तेरे किसी काम आये। वह ब्राह्मण है, हम भी ब्राह्मण हैं। यदि तू उसे समझाये तो तारा का वेड़ा पार हो।"

रीता पाण्डेयजी का शुभ संदेश लेकर आ गयी। बड़ी लम्बी-चौड़ी वकालत के साथ उसने मामला पेश किया। अब तो तारा के चक्कर काटने के अर्थ स्पष्ट हो गये। मैंने जब उसे अपने वादों की याद दिलायी, तो हँसकर बोली, "मगर मैं कायस्थ, तुम ब्राह्मण। कहाँ मैं, कहाँ तुम।"

मैं इस मामले को टालता रहा। टालने में ही बेहतरी समझी। अगले वर्ष चुनाव होनेवाले थे। यदि कहीं पाण्डेयजी उसने···। यदि शादी न की तो मेरा सारा बिजनेस समाप्त हो सकता था।

मैं इधर-उधर करके इंस्टिट्यूट आफ चार्टर्ड एकाउण्टेण्ट्स की रिजिनल कांउसिल की एक्जेक्यूटिव मेम्बर हो गया। मैं अपना प्रभाव दिल्ली में भी बढ़ाने लगा।

रीता, तारा को लेकर मुझसे मजाक करने लगी। मैं ऐसे मजाक से बहुत चिढ़ता। मगर रीता को ऐसे मजाक में बेहद रस मिलता।

बंगले की लीज समाप्त होने से पहले मैंने उसे खरीद लिया। वह हाथ से जाते-जाते बच गया।

रीता, पाण्डेयजी को दिलासा देती रही और बात को टालती रही।

मैंने सन् १९५७ में होनेवाले अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस आफ एकाउण्टेण्ट्स हेग (बेल्जियम) में भारत के प्रतिनिधि के रूप में भाग लेने का निश्चय किया। मालूम होते ही पाण्डेयजी ने तारा को मेरे साथ भेजने का निश्चय कर लिया। कई जगह घूमने का भी प्रोग्राम बना। रीता कटकर रह गयी।

× × ×

खन्ना साहब की हवेली से भयानक खबरें मिलीं। हमारे बेयरे ने बताया कि बिटिया को उन लोगों ने कोड़ों से मारा है।

रीता मिलने गयी। बात सच्ची निकली। हम सभी सन्नाटे में आ गये।

छुट्टियाँ बीतीं। रमेश, मीता को हवेली में छोड़कर दिल्ली चला गया। पता चलते ही मैं और रीता उसे लेने गये। मगर वहाँ तो उसकी लाश पड़ी थी। उसने ढेर-सी 'सोने' की गोलियाँ खा ली थीं।

बाघ खा गया बकरी को ! घर में मातम छा गया । प्रो० लाल ने चारपाई पकड़ ली । खन्ना को वे शायद अच्छी तरह जानते थे । लखनऊ का रईस जो ठहरा, पूरा ऐय्याश ।

रीता डैडी क़ी सेवा में लग गयी तन-मन से । मुझे तो यह फैला हुआ विजनेस प्रेत की तरह नचा रहा था । कभी यहाँ, कभी कहाँ । थोड़ा-वहुत पब्लिक सेक्टर में यूनियन गवर्नमेण्ट का काम मिला, तो मैंने कलकत्ता में भी एक आफिस खोल लिया ।

जाड़ों में गाँव गया, तो प्रभात की शादी कर आया । उसकी वात पिताजी ने एक पुराने रिश्तेदार को दी थी, सो मैं ऊपर से ही वचनवद्ध था । लीला न आयी इस शादी में । तिलक-दहेज की कमी अपनी ओर से पूरी करके तथा ढेर-सा सामान देकर मैंने लीला की भी विदाई कर दी । उसके ससुरालवाले मेरे जाने से खुश हुए और मान भी गये ।

लीला खूब रोयी, खूब रोयी !

पर क्यों ?

खेत मैंने सभी, कर्जदारों से छुड़ा लिये और दो नौकर रखकर पूर्ववत् खेती का काम चालू करा दिया ।

जनवरी सन् ५७ में चुनाव की आँधी आयी । मैंने पाण्डेयजी को पूरा सहयोग दिया । रात-दिन दौड़धूप करता रहा । चुनाव के लिए दस हजार रुपये भी मदद—स्वरूप दिये, मगर व्यापारी इनकी गांधियन पोंगापंथी के कारण उनके खिलाफ थे । उनकी जीत मुश्किल हो गयी ।

पाण्डेयजी हार गये ।

मन की मन ही माँहि रही ।

प्रो० लाल मीता की अकाल-मृत्यु के सदमे से कभी मुक्त न हुए । फरवरी में हृदय की गति रुक जाने के कारण उन्होंने सदा के लिए आँखें मूँद लीं ।

रीता अनाथ हो गयी, मैं अनाथ हो गया था ।

× × ×

मीता की अकाल-मृत्यु का सदमा पिता तथा मुझ पर वहुत गहरा पहुँचा था। मैंने रीता और प्रो० लाल के चुपके-चुपके मि० खन्ना को गिरफ्तार करवाने में पाण्डेयजी की मदद ली। पुलिस तो मि० खन्ना से एक गहरी रकम लेकर मामला रफ़ा-दफ़ा करनेवाली थी, पर मंत्रीजी का दवाव पड़ने से ऐसा न कर सकी।

मामले की छानवीन काफ़ी दिन तक चलती रही। अन्त में मि० खन्ना ने 'बेल' पर छूटने की व्यवस्था कर ही ली।

मगर 'वेल' पर छूटते ही कोठी में एक रात को उन्होंने अपने को गोली मार ली। सारा लखनऊ सन्नाटे में आ गया।

राजबाड़ी में दो-दो प्रेतों की छाया!

रीता के प्यार की दुनिया डूब गयी। उसे लखनऊ से नफ़रत हो गयी! घोर नफ़रत!

हमारी दुनिया में भूचाल आ गया। सव कुछ तहस-नहस हो गया। उत्साह मर गया। लगता, सारी दुनिया में भेड़िए भरे हैं—नरपिशाच!

× × × ×

मई लगते-लगते मैंने रीता को राजी कर लिया अपने साथ योरुप जाने के लिए। तारा भी चिपकी रही, किन्तु इन सारे सम्बन्धों से कशिश निकल गयी, रस सूख गया, खुशी मर गयी।

मई के मध्य में रीता, तारा तथा मैं तीनों 'एयर इण्डिया' से उड़ चले। रोम एयरपोर्ट पर हमारे अचरज का ठिकाना न रहा, रमेश को पाकर। पिता तथा पत्नी की मृत्यु के वाद वह योरुप की सैर को निकल पड़ा था।

रमेश एक कार लेकर आया था हमें लेने!……हमें?

नहीं तो…तारा को!

तारा उसके साथ चली गयी। हम दोनों ताकते रह गये। पहेली विल्कुल समझ में न आयी।

खैर चलो, जान वची, लाखों पाये।

रीता महीनों वाद पहले-पहल मुस्करायी।

हम दोनों प्लेन से स्विटजरलैण्ड चले गये। वहाँ की रम्य घाटियाँ, मनोहर पहाड़ियाँ तथा लहराते झील देखकर रीता के मन को शायद कुछ शान्ति मिली। लेक पर बोटिंग ने तो उसे बहुत ही आकर्षित किया। हमारा होटल भी झील के किनारे था, वह उसे बेहद पसन्द आया।

किन्तु, 'वोटिङ्ग' के लिए वह बिल्कुल तैयार न हुई। 'रोपवेज' से पहाड़ी की चोटी पर चढ़ना भी उसे पसन्द आया, बोलती, "पूरा 'उड़नखटोला' है !"

हेग की कांफ्रेंस में हम दोनों ने भाग लिया। दिन को टेक्निकल सेशन होते, तो वह लेडीज़ के प्रोग्राम में दर्शनीय स्थान देखने चली जाती। रात को डिनर और डान्स के प्रोग्राम में भाग लेती। मगर, सबसे बड़ी उलझन ये थी कि बहुत से डेलीगेट उसे मिसेज़ प्रकाश समझते और कभी-कभी ऐसा कह भी देते। बेचारी कट कर रह जाती।

मिस रीता के समझनेवालों की संख्या कम थी। कहनेवालों की और भी कम, बहुत कम।

विदाई के डिनरवाली रात को तो इतने लोगों ने 'मिसेज़ प्रकाश' कहकर हाथ मिलाया और विदा ली कि होटल के कमरे में आकर वह फूट-फूटकर रोने लगी। बहुत रोयी, बेहद रोयी।

मैंने ज्यों-ज्यों उसे चुप कराने का प्रयत्न किया, वह और भी बड़ी-बड़ी सिसकियाँ लेने लगीं। मेरी छाती में उसने अपना सिर डाल दिया और फिर हिलने का नाम न ले।

कुछ शान्त होने पर एकाएक फिर फूट पड़ी, "मेरा कोई नहीं प्रकाश, कोई नहीं···माँ गयी, बहन गयी, डैडी गये····अब···अब मेरा कौन है ?····कौन ?··· बोलो ना ? बोलो ?····जवाब दो। मैं किसके सहारे यह जिन्दगी का बोझ ढोऊँ ?"

मेरे दिल के तार-तार हिल गये। मैंने तुरन्त कहा, "मैं रीता····मैं !···· मैं तेरा हूँ····केवल तेरा····विश्वास कर···· मैं तेरा ही रहूँगा जन्म-जन्मांतर···· विश्वास की नाव पार लगती है रीता····तू मुझ पर···।"

रीता मारे खुशी के मुझसे लिपट पड़ी। मोटे-मोटे आँसुओं के बीच एक मोहक मुस्कान बिखर गयी। मैंने भी उसे बाँहों में दबोच लिया और जीवन की परम तृप्ति के साथ हम दोनों जाने कितनी देर तक उस आनन्द में डूबते-उतराते रहे।

कान्फरेंस समाप्त हुई। पेरिस का चक्कर मारकर हम दोनों भारत लौट पड़े। 'लूअर' की कला-कृतियाँ उसे बेहद भायी। यहाँ आकर उसने लखनऊ में रहने से इन्कार कर दिया। स्मृतियों का दंशन बेहद सताने लगा।

मजबूर होकर हम दोनों कलकत्ते आ गये। आफिस तो अपना था ही। घर भी ले लिया। मगर साथ रहने से इन्कार किया। पहेली मेरी समझ में न आयी। उसने मुझसे स्पष्ट शब्दों में पूछा, "मैं तुम्हारी कौन होकर तुम्हारे साथ रहूँगी ?"

बात कुछ हद तक ठीक भी थी। मुझे कोई उत्तर देते न बना। कुछ हिचक के साथ बोला, "मेरी दोस्त।"

"हिन्दुस्तान में मर्दों की दोस्त औरतें नहीं होतीं—बदनाम होना है क्या ?"

"चलो बदनाम भी होंगे तो नाम तो होगा"

"सो तो पब्लिक एकाउंट्स कमेटी में यूँ ही तुम्हारा नाम रोशन कर रखा है।"

"मेरी 'वार्ड' होकर रहो।"

"उसके लिए तुम्हारी उम्र कम है व मेरी ज्यादा।"

"फिर कहाँ जाओगी ?"—मैं झुंझलाया, "होटल, रेस्ट्राँ, लेडीज हॉस्टल, वाई. डबल्यू. सी. ए.···।"

"अनाथालय, विधवाश्रम तो तुमने छोड़ ही दिया।"

हम मुस्करा पड़े। तय पाया कि मैं उसके लिए किसी कॉलेज में काम ढूंढू। थोड़े-बहुत प्रयत्न के बाद एक नये कॉलेज में काम मिल गया और वह दो और लेडी प्रोफेसरों के साथ रहने लगी।

मेरा काम बढ़ता ही गया। पब्लिक सेक्टर की कई बड़ी कम्पनियों के 'आडिट' का काम मिल गया जो राँची, हज़ारीबाग, दुर्गापुर वगैरह में फैली हुई थीं, इसलिए कलकत्ते को अपना हेड आफिस बनाने में मुझे सुविधा हुई।

× × ×

सन् ५७ से यह सिलसिला जारी है। रीता तब से वाइस-प्रिंसिपल हो गयी है, फिर भी विमल चिढ़ाता है 'प्रोफेसर साहिबा' ?...या प्रोफेसरानी।

● ● ●

[stamp]

१७

वीणा के यहाँ आये मुझे लगभग तीन सप्ताह हो गये। न तो घर की कोई खबर मिली न रीता की। वैसे आफ़िस की ज़रूरी डाक मेरे पास आती रही।

एक दिन हम तीनों भूटान के बार्डर पर पिकनिक के लिए गये। बड़ा रम्य स्थान है, अमरूद की बारी, कुछ सरकारी बंगले, खूबसूरत सड़कें, रेस्ट हाउस....। बहुत सारे भारतीय वहाँ छुट्टियों में पिकनिक के लिए जमा हो जाया करते थे।

एक पेड़ की छाया तले हमारा ग्रूप जम गया। लगभग एक बजे वीणा ने लंच परोसना आरम्भ किया, तभी एक हरकारा बंगले से एक तार लेकर आया।

तार रीता का था, उसने मुझे तुरंत बुलाया था।

पिकनिक का मज़ा किरकिरा हो गया। मैं बड़ी चिन्ता में पड़ गया। रीता ने क्यों बुलाया?

दूसरे दिन 'जालपाईगुरी ट्रैवेल' का प्लेन पकड़कर मैं कलकत्ते आ गया। पहले सीधे रीता के यहाँ गया। कॉलेज में मिली वह।

उसे मुस्कराते देख मेरी चिन्ता दूर हुई। कारण पूछा, तो बोली, "कोई घबराने की बात नहीं, शाम को इतमीनान से बताऊँगी।"

शाम को हम दोनों फोर्ट विलियम के परे हुगली तट पर चले गये और एक बेंच पर बैठ गये। रीता ने विस्तार के साथ बताया।

विमला को राजेन्द्र से मुहब्बत हो गयी है। राजेन्द्र मेरे पड़ोसी अस्थानाजी का लड़का है और स्कूल आफ माइंस, धनबाद में पढ़ता है। छुट्टियों में आता-जाता रहता है। अस्थानाजी के घर से मेरे घर का काफी सामीप्य है।"

मैं तो एकदम से अचम्भे में आ गया, बोला, "विमला इतनी सीधी-सादी।"

"सीधे-सादे लोग इस मर्ज के ज़्यादे शिकार होते हैं।" कहकर रीता हँसने लगी। मैं झेंपा।

मैं क्या करूँ ?...." रुककर पूछा मैंने।

"शादी कर दो, इनकी।" वह सहज भाव से बोल गयी।

ऐसी शैतान हो गयी है रीता।

"शादी कर दूँ ?......राजेन्द्र कायस्थ है।"

मेरे गुस्से पर, वह और भी जोर से हँसने लगी। भला इसमें हँसने की क्या बात थी ? मैं झुंझलाया। वह बोली, "तुम न करोगे तो वे खुद कर लेंगे सिविल मैरेज....।"

"सच...? मेरी आँखें फैल गयीं।

"लोग क्या कहेंगे ?"

"प्रेम न जाने जात-कुजात....।
भूख न जाने जूठा भात।"

"भूख ही की बात कहो।"

"गल्ती मत दो उन दोनों को।" रीता चमकी।

"तो कहो न, इसमें तुम्हारा भी हाथ है।" मैं बोल गया गुस्से में।

"मेरा हाथ ?....क्यों ? वह अकचकायी।

"उनकी शादी होगी तो तुम्हारी भी····।"

"छिः प्रकाश !····यही तुमने समझा मुझको इतने दिनों में ?"

वह मौन हो गयी। बड़ी देर तक फिर न बोली। नयनों से मोती झर पड़े।

हम बड़ी रात गये वहाँ से लौटे।

मैंने घर के सभी लोगों की सलाह ली। अस्थानाजी से भी मिला। सभी राजी नजर आये। माँ को मनाने में थोड़ी दिक्कत जरूर पड़ी, बाकी सब तो पहले से ही आशीर्वाद दिये बैठे थे।

गत साल की ही बात तो करता हूँ। फरवरी की। विमला की शादी हो गयी राजेन्द्र के साथ।

× × ×

रीता कहती है "तुम्हें यह सब लिखते शर्म नहीं आती ? अपने प्रेम की क़हानी खुद लिखते हो। मुझे भी बदनाम करते हो, खुद भी बदनाम होते हो।

"चलो बदनाम होंगे तो क्या नाम न होगा ? और मुस्करा पड़ते हैं।

● ● ●

डा. डिल्ली
कल्याणी

मुद्रक—भार्गव भूषण प्रेस, त्रिलोचन, वाराणसी।
५९/१–७६

डा. डिल्ली रमण रेड्डी
कल्याणी रेड्डी स्मारक
पुस्तकालय